



धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय
चेतना की पत्रिका

अंक : ६८

पौष-फाल्गुन

विक्रमाब्द : २०६१

जनवरी-मार्च, २००५ ई०

सम्पादक - मण्डल

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

प्रो० काशीनाथ मिश्र

महन्त उद्धवदासजी

डा० श्रीरंजन सूरिदेव

आचार्य किशोर कुणाल

प्रधान सम्पादक

भवनाथ झा

महावीर मन्दिर प्रकाशन
के लिए

प्रो० काशीनाथ मिश्र

द्वारा प्रकाशित

तथा

सर्वलाइट प्रेस में मुद्रित

पत्र-सम्पर्क:

धर्मायण,

पाणिनि-परिसर,

बुद्ध-मार्ग,

पटना-८००००१

दूरभाष - ०६१२-२२०७७२५

मूल्य : दस रुपये

धर्मायण

विषयसूची

सम्पादकीय	:	
① आर्य-संस्कृति और बिहार	:	विद्यावाचस्पति डा० श्रीरंजन सूरिदेव ७
② इन्द्रभूति गौतम गणधर	:	जगदीश पाण्डेय 'गौतम' १३
③ प्रसाद के नाटकों में राष्ट्रीय चेतना	:	डा० तारकेश्वर नाथ सिन्हा १७
④ आलनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च	:	डा० एस० एन० पी० सिन्हा २२
⑤ सर्वोपरि धर्म : सेवा	:	डी० आर० ब्रह्मचारी २४
⑥ कालपुरुष की योजना	:	डा० श्यामसुन्दर घोष २८
⑦ गोस्वामी तुलसीदास अविवाहित थे	:	ब्रजनन्दन प्रसाद सिंह ४८
⑧ क्रान्तिकारी बाला प्रीतिलता वहेदार	:	परमानन्द दोषी ५२
⑨ असुर-संहार की कारणभूत सीता	:	डॉ शिववंश पाण्डेय ५७
⑩ प्लवगपुंगव हनुमान्	:	जयकान्त मिश्र ६१
⑪ वियोगिनी वैदेही और ऊर्दू कविता में सीता	:	डा० प्रणव देव ६५
⑫ उपनिषदों की सुगन्धि है गीता	:	गोपालजी ६६
⑬ गीता का भक्ति-योग	:	कैलाश त्रिपाठी ७३
⑭ माया	:	वासुदेव पाण्डेय ७६
व्रत-त्योहार	:	७६
अन्य स्थायी स्तम्भ	:	

वाग् वै सारस्वती

सम्पादकीय

सनातन धर्म में विद्या की देवी के रूप में सरस्वती की पूजा प्राचीन काल से प्रचलित है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय में जिस सरस्वती का उल्लेख है, वह एक नदी है। वह जल-देवता के रूप में प्रसिद्ध है। ऋग्वैदिक ऋषि कवच ऐलूष की कथा के प्रसंग में सरस्वती की चर्चा है, किन्तु वहाँ उसे जल-देवता का एक रूप माना गया है। अलबत्ता, ऋग्वेद के वाक् विषयक मन्त्रों में वाक् को देवी माना गया है, किन्तु वहाँ उन्हें पुस्तक और वीणा धारण करनेवाली नहीं माना कहा है।

वैदिक शब्द-कोश 'निरुक्त' में यास्क ने 'सरस्वती' शब्द को नदी-वाचक और वाग्देवता वाचक दोनों माना है। 'वाक्' के अर्थ में प्रयुक्त शब्दों का निर्वचन आरम्भ करते हुए यास्क कहते हैं—

वाक् कस्मात्? वचेः। तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमाः भवन्ति। (— निरुक्त : २।७)

अर्थात्, वाक् शब्द का निर्वचन 'वच्' धातु से बोलने के अर्थ में होता है। यहाँ 'सरस्वती' शब्द नदी के रूप में और देवता के रूप में दोनों प्रकार से वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त है।

इस प्रकार, यास्क ने भी सरस्वती को वाक् से सम्बद्ध वैदिक देवी माना है।

कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय-संहिता में भी कतिपय स्थलों पर 'जिह्वा' के साथ सरस्वती का सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। अश्वमेध यज्ञ में अश्व की जिह्वा से 'सरस्वती' के लिए आहुति देने की बात कही गयी है—**सरस्वतीं जिह्वाग्रेण** (५।५।११)।

वाक् के साथ वीणा के सम्बन्ध की एक सुन्दर कथा तैत्तिरीय-संहिता में है। एक बार वाक् देवताओं

से दूर होकर वनस्पतियों में प्रविष्ट हो गयी। वही वाक् वनस्पतियों में बोलती है; दुन्दुभि, तुणव और वीणा में भी बोलती है। अतः दीक्षित यजमान को वाणी पर नियन्त्रण रखने के लिए दण्ड (लाठी) थमाया जाता है।

वाग् वै देवेभ्योऽपाक्रामत्। यज्ञायातिष्ठमाना सा वनस्पतीन् प्राविशत्। सैषा वाग् वनस्पतिषु वदति या दुन्दुभौ या तुणवे वीणायां। यद्दीक्षितदण्डं प्रयच्छति वाचमेवावरुन्धै (६।१।४)।

इसी संहिता में राजसूय-प्रकरण में सरस्वत् और सत्यवाक् को समानाधिकरण के द्वारा अभिन्न मानते हुए उन्हें चरु समर्पित करने का विधान किया गया है—

सरस्वते सत्यवाचे चरुं(रुं) सवित्रे सत्यप्रसवाय पुरोडाशं..... (१।८।१६)।

अश्वमेध प्रकरण में दीक्षा-पूर्व होम तथा मेध-पूर्व होम में अग्नि, सोम, सविता, पूषा, बृहस्पति आदि के साथ सरस्वती को भी आहुति देने का उल्लेख हुआ है—**सरस्वत्यै स्वाहा।** (५।१।१४-१६)

इस प्रकार, हम देखते हैं कि वैदिक काल में भी वाणी, जिह्वा, संगीत आदि से सम्बद्ध देवता के रूप में वाग्देवी सरस्वती स्थापित हो चुकी थी।

बौधायन-गृह्यसूत्र में भी देवी सरस्वती की पूजा का विधान किया गया है। यहाँ विद्यारम्भ के पहले सरस्वती-पूजा करने का उपदेश किया गया है—**अथाग्रेणानिं पलाशपर्णेषु हुतशेषं निवेदयित्वा बाह्यबलिं दत्तोदेत्यापरेणानिं प्राङ्मुखं कुमारमुपवेश्य विद्यारम्भं कुरुते।** यहाँ उन्हें वाग्देवी, गीर्देवी, सरस्वती तथा ब्राह्मी कहा गया है—**वाग्देव्यै कल्पयामि गीर्देव्यै कल्पयामि सरस्वत्यै कल्पयामि ब्राह्म्यै कल्पयामि इति।** प्रत्येक

मास के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी तिथि को उपासना का दिन माना गया है— **शुक्लपक्षे त्रयोदश्यां वोत्तरयोः फल्गुनयोर्वा पुण्ये नक्षत्रेऽथ देवयजनोल्लेखन-प्रभृत्या प्रणीताभ्यः कृत्वाऽग्नेगान्निं सरस्वतीम् आवाहयति ।** प्रत्येक मास में विद्याकाक्षी लोगों के द्वारा इनकी अर्चना करने का विधान किया गया है— **एवमेव मासि मासि विद्याकाङ्क्षी सरस्वतीभारधयेदित्याह भगवान् बोधायनः । ।** (बोधायन गृह्यसूत्र : ३।६)

पंचविंश ब्राह्मण में मन्त्रगत वाक्य को सरस्वती के रूप में प्रतिष्ठा दी गयी है। साथ ही, यज्ञ में इस वाक् को भी आहुति देने का विधान किया गया है। कथा इस प्रकार है—

एकवार वाग्देवी देवताओं से दूर चली गयी। देवताओं ने जब उन्हें पुकारा तब वाग्देवी ने कहा कि मुझे तो यज्ञ में भाग नहीं मिलता। तब मैं क्यों आपके साथ रहूँगी। देवों ने वाक् से पूछा कि आपको हममें से कौन भाग देंगे? वाक् ने कहा कि उद्गाता हमें भाग देंगे। अतः उद्गाता वाग्देवी को उद्दिष्ट कर इस मन्त्र से हवन करते हैं—

तस्यै जुहुयात् । वेकुरानामासि जुष्टा देवेभ्यो नमो वाचे नमो वाचस्पतये देवि वाग्यते वाचा मधुमत्तमस्मिन् मा धाः सरस्वत्यै स्वाहेति ।

(६।७।७)

यहाँ स्पष्ट रूप से वाग्देवी सरस्वती का उल्लेख हुआ है। इसी ब्राह्मण में **वाग्यै सरस्वती** (१६।५।१६) भी कहा गया है।

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ से पुरुष की उत्पत्ति के सन्दर्भ में उस पुरुष के अवयवों का वर्णन करते हुए वाक् को सरस्वती कहा गया है— **मन एवेन्द्रो वाक् सरस्वती श्रोत्रे अश्विनौ...** (१३।६।१।१३) इसी स्थल पर जिह्वा को सरस्वती माना गया है— **प्राण एवेन्द्रः जिह्वा सरस्वती नासिके अश्विनौ** (१२।६।१।१३)

१०८ उपनिषदों में सरस्वती से सम्बद्ध उपनिषद् भी उपलब्ध है। इसका उल्लेख मुक्तिकोपनिषद् में

कृष्ण-यजुर्वेद से सम्बद्ध ३२ उपनिषदों के साथ किया गया है। इस 'सरस्वतीरहस्योपनिषद्' में देवी सरस्वती को ब्रह्म की शक्ति तथा चारों वेदों का एक मात्र प्रतिपाद्य माना गया है—

मन्त्रेण न्यासः -

या साङ्गोपाङ्गवेदेषु चतुर्ष्वेकैव नीयते ।

अद्वैता ब्रह्मणः शक्तिः सा मां पातु सरस्वती । ।

(मन्त्र सं० २)

यद्यपि बीज-मन्त्रों के उल्लेख के कारण यह उपनिषद् तान्त्रिक-परम्परा से सम्बद्ध सिद्ध होता है, किन्तु ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के उल्लेख करते हुए इसे वैदिक-परम्परा में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है। इस उपनिषद् में सरस्वती को वाणी की अधिष्ठात्री-देवी तथा पुस्तक-धारिणी के रूप में प्रतिष्ठा मिली है।

अक्षसूत्राङ्कुशधरा पाशपुस्तकधारिणी ।

मुक्ताहारसमायुक्ता वाचि तिष्ठतु मे सदा । ।

(प्रार्थना मन्त्र ३)

प्रार्थना के बाद इस दशश्लोकी स्तोत्र की फलश्रुति में कहा गया है—

यः कवित्वं निरातङ्कं भुक्तिमुक्ती च वाञ्छति ।

सोऽभ्यर्च्यैनां दशश्लोक्या नित्यं स्तौति सरस्वतीम् । ।

अर्थात्, जो निःसन्देह कवित्व-शक्ति, भोग और मोक्ष चाहते हैं, वे उपासना कर इस दशश्लोकी से नित्य सरस्वती की स्तुति करते हैं।

परम्परा के अनुसार महाभारत के वर्तमान स्वरूप के विकास की परम्परा 'जय' नामक काव्य की रचना के साथ प्रारम्भ हुई। इसका विस्तार 'भारत' नामक काव्य में हुआ और अन्त में वर्तमान महाभारत का स्वरूप स्थापित हुआ। इस 'जय' काव्य का आदि श्लोक था—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।

देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् । ।

यह श्लोक आज भी महाभारत का मंगलाचरण माना जाता है, साथ ही, पुराण के पाठ के प्रारम्भ में

इसे मंगलाचरण के रूप में पढ़ना आवश्यक माना जाता है। भले, पुराण-साहित्य में सरस्वती का स्वरूप अविकसित रहा हो, किन्तु इसके पाठ के प्रारम्भ में इसका स्मरण अत्यन्त महत्पूर्ण है।

वाल्मीकीय रामायण में भी वाग्देवी सरस्वती का उल्लेख महिमा के साथ किया गया है। तमसा नदी के तट पर जब वाल्मीकि ने क्रौंच वध का हृदय-विदारक दृश्य देखा, तब उनके मुख से 'मा निषाद...' इत्यादि श्लोक सहसा स्फुटित हो गया। महर्षि वाल्मीकि ने जब इसके अर्थ पर विचार किया तब उनका मन उद्विग्न हो गया; क्योंकि उन्होंने अनजाने में शाप दे डाला था। वे मध्याह्न-सन्ध्या अनमने-से सम्पन्न कर आश्रम लौट आये, किन्तु उनका मन उद्विग्न ही रहा। थोड़ी देर के बाद ब्रह्मा उनके आश्रम पर आये और उन्होंने रामकथा लिखने की प्रेरणा दी। इसी स्थल पर ब्रह्मा ने कहा-

श्लोक एवास्वयं बद्धो नात्र कार्या विचारणा ।

मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती । ।

(बाल० : २।३१)

अर्थात्, हे ब्रह्मर्षे! यह पदबन्ध श्लोक ही है; इसमें सन्देह की कोई बात नहीं। मेरे आदेश से ही यह सरस्वती आपके मुख में प्रविष्ट हो गयी थी।

रामायण के किसी-किसी पाठ में **मच्छन्दादेव** के स्थान पर **स्वच्छन्दादेव** पाठ भी उपलब्ध होता है, जिससे स्वयं कृपा करनेवाली सरस्वती का रूप अवगत होता है।

विद्या और कवित्व-शक्ति की देवी सरस्वती की महिमा यहाँ गायी गयी है।

मत्स्य-पुराण के ६६वें अध्याय में वीणा, पुस्तक, कमण्डलु एवं अक्षमाला धारण करनेवाली देवी सरस्वती की उपासना से सम्बद्ध सारस्वत-व्रत का वर्णन है। वहाँ आराध्या की आठ मूर्तियों का उल्लेख हुआ है-

लक्ष्मीर्मेधा धरा पुष्टिः गौरी तुष्टिः प्रभा मतिः ।

एताभिः पाहि अष्टाभिस्तनुभिर्मा सरस्वति । ।

यहाँ सरस्वती के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार हुआ है-

एवं सम्पूज्य गायत्रीं वीणाक्षमालधारिणीम् ।

शुक्लपुष्पाक्षतैर्भक्त्या सकमण्डलुपुस्तकाम् । ।

संस्कृत साहित्य में भी सरस्वती को ब्रह्मा की शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है; यहाँ तक कि 'ब्राह्मी' शब्द का व्यवहार भी सरस्वती के लिए होने लगा। अमरकोश में ब्राह्मी, भारती, भाषा, गीः, वाक्, वाणी एवं सरस्वती को पर्याय माना गया है-

ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाक् वाणी सरस्वती ।

प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में 'एकानंशा' देवी की प्रतिभा का उल्लेख किया है (५८।३७)। इनके तीन रूप हैं- दो भुजावाली, चार भुजावाली एवं आठ भुजावाली। इनमें चार भुजावाली देवी के एक हाथ में पुस्तक है।

एकानंशा कार्या देवी बलदेवकृष्णयोर्मध्ये ।

कटिसंस्थितवामकरा सरोजमितरेण चोद्धृती । ।

अर्थात्, बलदेव और कृष्ण की प्रतिमा के बीच एकानंशा देवी की स्थापना करें। द्विभुजा एकानंशा के एक हाथ कमर पर दूसरे हाथ में कमल का फूल होना चाहिए। इसी स्थल पर चतुर्भुजा देवी का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए कहते हैं-

कार्या चतुर्भुजा या वामकराभ्यां सपुस्तककमलम् ।

द्वाभ्यां दक्षिणपार्श्वे वरमर्थिव्यक्षसूत्रं च । ।

अर्थात् चतुर्भुजा देवी के दोनों बायें हाथों में पुस्तक एवं कमल देना चाहिए। दोनों दायें हाथों में से एक में रुद्राक्ष की माला हो तथा एक हाथ वरमुद्रा में बनाये जाँए।

यद्यपि यहाँ सरस्वती शब्द का उल्लेख नहीं है, किन्तु पुस्तक-धारिणी देवी की चर्चा है। अतः सरस्वती के स्वरूप के विकास में ईसा की ५वीं शती के उत्तरार्द्ध में लिखा गया वराहमिहिर का यह निर्देशन महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

संस्कृत के गद्यकार दण्डी (छठी शती) ने दशकुमारचरित के प्रारम्भ में एक श्लोक में सरस्वती

की स्तुति चतुर्मुख ब्रह्मा के मुख कमलों के बीच विचरण करनेवाली हंसिनी के रूप में की है तथा उनसे प्रार्थना की है कि वह देवी हमारे मन में भी हमेशा रमण करती रहे—

चतुर्मुखमुखाभोजवनहंसवधूर्मम ।

मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती । ।

हलौंकि जीवनन्द विद्यासागर प्रभृति सम्पादकों ने इस श्लोक को बाणभट्ट की कृति 'हर्षचरित' का मंगल-श्लोक माना है। चूँकि बाणभट्ट ने हर्षचरित के प्रारम्भिक अंश में सरस्वती का उल्लेख जिस रूप में किया है, उससे उपर्युक्त श्लोक को बाण की रचना मानना संगत प्रतीत होता है। यह श्लोक सरस्वती-रहस्योपनिषद् में भी प्राप्त है, अतः इसका मूल अन्वेष्टव्य है।

बाणभट्ट ने हर्षचरित में सरस्वती देवी के जिस स्वरूप का वर्णन किया है, उसी रूप में आज उनकी पूजा होती है। बाणभट्ट का सरस्वती-वर्णन इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह कथा इस प्रकार है—

एक बार ब्रह्मलोक में विद्या-गोष्ठी चल रही थी, अध्यक्ष के पद पर ब्रह्मा स्वयं बैठे थे। उनके निकट खड़ी सरस्वती उन्हें चँवर डुला रही थी। देवी सावित्री भी कमण्डलु और मृगचर्म धारण की हुई उस गोष्ठी में थी। सामने अनेक ऋषि-मुनि सस्वर पाठ कर रहे थे। उनमें ऋषि दुर्वासा भी थे, जो अपने क्रोध के लिए कुख्यात थे। जब वे सामवेद का गायन करने लगे, तब क्रोध के कारण स्वर टूटने लगा। इस पर सभी विद्याएँ जाननेवाली सरस्वती हँस पड़ी। दुर्वासा के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने सरस्वती को शाप दे डाला कि तुम्हें ब्रह्मलोक छोड़कर पृथ्वी पर जाना पड़ेगा। सावित्री सरस्वती की सखी थी। सरस्वती का साथ छूट जाने की आशंका से वह विचलित हो गयी और वह भी दुर्वासा को डाँटती-फटकारती हुई शाप दे बैठी। ब्रह्मा ने बीच-वचाव किया और दुर्वासा के शाप में संशोधन इस रूप में किया कि सरस्वती पृथ्वी पर जब पुत्र का मुख देख लेगी तब ब्रह्मलोक वापस आ सकेंगी। इस गोष्ठी के निर्णय के अनुसार सरस्वती

के साथ सावित्री भी भू-लोक पर उतर पड़ी। यहाँ दधीचि के साथ जब सरस्वती का परिणय हो गया तब सावित्री ब्रह्मलोक चली गयी। दधीचि के संयोग से सरस्वती ने एक पुत्र को जन्म दिया। इस सारस्वत का पालन दधीचि के भार्गववंशीय भाई की पत्नी अक्षमाला ने अपने पुत्र 'वत्स' के साथ किया। सारस्वत के प्रभाव से वत्स ने भी युवावस्था में ही सभी विद्याएँ प्राप्त कर ली। युवावस्था में ही विरक्त होकर सारस्वत तपस्या करने चले गये, किन्तु वत्स से वात्स्यायन वंश की परम्परा चली, जिसमें बाणभट्ट हुए।

बाणभट्ट के सरस्वती-वर्णन के अनुसार वह विद्वानों के मानस में निवास करती है। वह मानस-सरोवर(मानसरोवर) के समान है। मानस-सरोवर में कमल-नाल बहुत सुन्दर होते हैं। वही कमल-नाल मानो सरस्वती के शरीर पर चिपक गया है, जो यज्ञोपवीत के रूप में दिखाई पर रहा है— **विद्वन्मानसनिवासलग्नेन गुणकलापेनेवांसावलम्बिना ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकाया ।** उनके मुख में समस्त विद्याएँ प्रविष्ट हैं। उन विद्याओं के चरणों में लगे अलक्तक राग सरस्वती के होठों को लाल बना रहे हैं— **वदनप्रविष्टसर्वविद्यालक्तकरसेनेव पाटलेन स्फुरता दशनच्छदेन विराजमाना ।** बाणभट्ट ने उन्हें सुर, असुर, मुनि एवं मनुष्यों की वन्दनीया कहा है— **सुरासुरमुनिमनुजवृन्दवन्दनीयां त्रिभुवनमातरं भगवतीं सरस्वतीं...**(सावित्री की उक्ति)।

हर्षचरित के प्रारम्भिक श्लोक में बाणभट्ट ने श्लेषालंकार की योजना कर महाभारत को जहाँ वाग्देवी सरस्वती से पवित्र बतलाया है वहीं भारतवर्ष को सरस्वती नदी से पवित्र कहा है—

नमः सर्वविदे तस्मै व्यासाय कवि वेधसे ।

चक्रे पुण्यं सरस्वत्या यो वर्षमिव भारतम् । । ३ । ।

बाणभट्ट का काल सातवीं शती है। वे सम्राट् हर्षवर्द्धन के राजकवि थे। अतः बाणभट्ट का यह उल्लेख वस्तुतः अपने वंश को विद्या-सम्पन्न सिद्ध करने के लिए किया गया है, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि बाणभट्ट के काल में विद्या की अधिष्ठात्री, सरस्वती का स्वरूप जन-मानस में प्रतिष्ठित

हो चुका था, किन्तु यहाँ भी वीणा एवं पुस्तक धारण का उल्लेख नहीं है।

सरस्वती का एक रूप तन्त्र-साहित्य में विकसित हुआ है। यहाँ उन्हें महाकाली, महालक्ष्मी के साथ त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की शक्तियों में से ब्रह्मा की शक्ति के रूप में माना गया है। इस परम्परा में इनके हाथों में वीणा और पुस्तक होने की बात नहीं है। महासरस्वती का ध्यान, जो 'दुर्गासप्तशती' के अनुष्ठान की परम्परा के साथ उपलब्ध है, इसमें इनके हाथों में घण्टा, शूल, हल, शंख, मुसल, चक्र, धनुष, बाण का उल्लेख है तथा इन्हें गौरी के शरीर से उत्पन्न तीनों भुवनों का आधार एवं शुम्भ आदि राक्षसों का संहार करने वाली माना गया है।

घण्टाशूलहलानि शङ्खमुसले चक्रं धनुः सायकं ।

हस्ताब्जैर्दधतीं घनान्तविलसच्छीतांशुतुल्यप्रभाम् ।

गौरीदेहसमुद्भवां त्रिजगतामाधारभूतां महा-

पूर्वामत्र सरस्वतीमनुभजे शुम्भादिदैत्यादिनीम् । ।

इस ध्यान में महासरस्वती का स्वरूप दुर्गा के स्वरूप से अभिन्न है।

दुर्गासप्तशती के मूल पाठ में ब्रह्मा की शक्ति के रूप में जिस देवी का उल्लेख है, उसमें उपर्युक्त स्वरूप नहीं उपलब्ध होता है। दुर्गासप्तशती के आठवें अध्याय में 'ब्रह्माणी' देवी एक विमान पर विचरण करती हैं, जिसके आगे हंस है। वहाँ इनके हाथों में रुद्राक्ष एवं कमण्डलु है—

हंसयुक्तविमानाग्रे साक्षसूत्रकमण्डलुः ।

आयाता ब्रह्मणः शक्तिः ब्रह्माणी साभिधीयते । ।

(८।१५)

रक्तबीज के वध के लिए इस ब्रह्माणी के द्वारा अस्त्र चलाने वजाय कमण्डलु के जल से शाप देने का उल्लेख हुआ है—

कमण्डलुजलाक्षेपहतवीर्यान् हतौजसः ।

ब्रह्माणी चाकरोच्छत्रून् येन येन स्म धावति । ।

(८।३३)

शाप के प्रभाव से शत्रुओं का विनाश करनेवाली देवी के रूप में ग्यारहवें अध्याय में भी इनकी स्तुति की गयी है—

हंसयुक्तविमानस्थे ब्रह्माणीरूपधारिणि ।

कौशाम्भःक्षरिके देवि नारायणि नमोऽस्तुते । । १३ । ।

यहाँ हंसवाहिनी तथा कुश से जल छिड़कने वाली देवी का उल्लेख हुआ है।

'देवीकवच' में भी सरस्वती का उल्लेख है।

यहाँ जिह्वा की रक्षा करने की प्रार्थना की गयी है—

जिह्वायां च सरस्वती (श्लोक : २४)। कवच में भी

'ब्राह्मी' को हंसवाहिनी कहा गया है— **ब्राह्मी हंससमारूढा**

(श्लोक : ११)।

मेरुतन्त्र में सरस्वती के सात रूपों का वर्णन किया गया है— चिन्तामणि, ज्ञान, नील, घट, किनि, अन्तरिक्ष एवं महासरस्वती। ये ब्रह्मशक्तियाँ कही गयी हैं। इनका वाहन हंस है। इनमें चिन्तामणि-सरस्वती को वीणा-धारिणी कहा गया है। ज्ञानसरस्वती एवं नीलसरस्वती को पुस्तक-धारिणी कहा गया है।

तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मन्त्रमहौदधि' में महीधर ने नीलसरस्वती के साथ तारा की एकात्मता स्थापित की है। यहाँ उन्होंने एकजटा सरस्वती का भी उल्लेख किया है। किन्तु मेरुतन्त्र में उल्लिखित पुस्तक-धारिणी नीलसरस्वती के स्थान पर शूल, तलवार, घण्टा एवं मुण्ड धारण करनेवाली नीलसरस्वती हैं।

श्रावस्ती के सेत-महेत से प्राप्त १२१६-२० ई० एक बौद्ध शिलालेख (दी इण्डियन एण्टीक्वैरी, मार्च १६८८) में एक ही श्लोक में तारा और भारती (सरस्वती) की स्तुति की गयी है—

संसाराम्भोधिताराय तारामुत्तरलोचनाम् ।

वन्दे गीर्वाणवाणीनां भारतीमधिदेवताम् । ।

एक ही देवी के विविध प्रकार के ध्यान तन्त्रशास्त्र के लिए सामान्य बात है। वस्तुतः यहाँ देवताओं के तीन प्रकार के ध्यान हैं— सृष्टि-ध्यान, स्थिति-ध्यान एवं संहार-ध्यान। एक ही देवता का कभी सौम्य रूप तो कभी भयंकर रूप का उल्लेख हुआ है।

ऐसी सरस्वती देवी को प्रणाम ।



आर्य-संस्कृति और बिहार

विद्यावाचस्पति डा० श्री रंजन सूरिदेव

श्रमण और ब्राह्मण-संस्कृतियों की विवेचना करनेवाले ग्रन्थों में बिहार-प्रदेश का व्यापक वर्णन उपलब्ध होता है। आर्य-संस्कृति के उद्घोषक पौराणिक-ऐतिहासिक महत्त्व के राज्यों में बिहार का पांक्तेय स्थान है। ब्राह्मणों और श्रमणों के दृष्टिकोण से, प्राचीन भारतीय संस्कृति के विकास में बिहार की भूमिका का जो अध्ययन उपन्यस्त किया गया है, उसका सान्दर्भिक मूल्य तो है ही, वह अतिशय रुचिर और रोचक भी है।

‘सभ्यता’ से हमें किसी भी सामाजिक व्यवस्था की राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक एवं साहित्यिक समृद्धि का ज्ञान होता है। जो समाज जितना ही अधिक सभ्य होता है, उसमें उतनी ही अधिक विकासमूलक सुव्यवस्था निःशंकता और सुरक्षा की

सम्भावना सुनिश्चित होती है। ‘संस्कृति’ इसी सभ्यता के आन्तरिक प्रभाव की विकास-परम्परा से सम्बद्ध है और सभ्यता के आन्तरिक प्रभाव के विकास-क्रम की दृष्टि से भारतवर्ष में बिहार-राज्य का स्थान निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है।

हिमालय से चली गंगा, अनेक प्रदेशों की संस्कृतियों का संवहन करती हुई जब बिहार में आयी, तब इसे उत्तर और दक्षिण के बीचो-बीच

बाँटती हुई आगे बढ़ी। उत्तर का भाग ‘मिथिला’ और दक्षिण का भाग ‘मगध’ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पौराणिक कथा के अनुसार, मिथिला (गंगा का उत्तरतटीय क्षेत्र : उत्तर बिहार) में विदेह जनक का राज्य था।

महाराजा निमि विदेह-वंश के प्रथम राजा और उस वंश की प्रतिष्ठा के विस्तारक हुए। निमि के पुत्र ‘मिथि’ हुए, जिनके नाम पर ‘मिथिला’ प्रदेश प्रतिष्ठित हुआ। ‘मिथि’ जनक का ही उपनाम था। मिथिला के राजर्षि जनक की राजसभा में देश-देशान्तर के जिज्ञासु विद्वानों का समागम होता

था। ऐतिहासिकों के मत में सन् ४७६ ई० से ७२२ ई० तक कर्णाट-क्षत्रिय नान्यदेव या नान्यदेव के वंशज राजाओं ने मिथिला में राज्य किया। इसके बाद

[ऐसा कहा जाता है कि ईसा पूर्व भारत का व्यवस्थित इतिहास वस्तुतः बिहार का इतिहास है। इतना ही नहीं, धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं कला के विकास की परम्पराओं में उत्स के रूप में भी बिहार ईसापूर्व काल से ही अग्रणी रहा है। इन क्षेत्रों में बिहार प्रदेश में आविर्भूत ऋषियों, राजाओं, कवियों, चिन्तकों एवं कलाकारों के अवदान पर सिंहावलोकन प्रस्तुत कर रहे हैं, संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी के मूर्द्धन्य विद्वान्, गवेषक एवं चिन्तक आचार्य श्रीरंजन सूरिदेव।
—सं०]

लगातार चौतीस वर्षों तक मिथिला में कोई राजा न था। फिर, सन् ७५६ ई० में ब्राह्मण-कुल के ओइनवार-मैथिल राजा हुए। तदनन्तर खण्डवलाकुल-कमलदिवाकर नैयायिक महामहोपाध्याय महेश ठक्कुर (ठाकुर) ने अकबर बादशाह के हाथ से मिथिला-राज्य पाया। इस वंश के राजा परम्परागत रूप से अभी तक मिथिला (दरभंगा)-राज में प्रतिष्ठित हैं।

(मिथिला के राजवंशों की ये तिथियाँ मिथिला में प्रचलित फसली सन् के अनुसार है। इसमें ५६३ जोड़ने पर ईसवी सन् होता है। साथ ही म० म० परमेश्वर झा ने मिथिलातत्त्वविमर्श में नान्यदेव का शासनारम्भ ४६६ फसली साल अर्थात् १०८६ ई० माना है। विदित हो कि महेश ठाकुर ने १५५६ ई० में राज्य पाया था। - सं०)

दक्षिण बिहार में भी, बहुत पुराने समय में, जरासन्ध नाम का प्रतापी राजा राजगृह (वर्तमान राजगीर) में राज्य करता था। महाराजा जरासन्ध के बाद उसके वंश के तेईस राजा मगध के सिंहासन पर बैठे। जरासन्ध के प्रताप के बारे में प्राकृत-बृहत्कथा वसुदेवहिण्डी, (तीसरी-चौथी सदी) में लिखा है कि उसका पादपीठ विनत सामन्तों के मुकुटों की मणिकिरणों से अनुरंजित रहता था (सामन्तपत्थिवपणयमउडमणिकराऽऽरंजिय पायवीढो : द्र० लेखक द्वारा सम्पादित अनूदित संस्करण, पृ० ७६६)। जरासन्ध-वंश के तेईसवें राजा का नाम रिपुंजय था। इसी रिपुंजय का संहार उसके मन्त्री शनक ने किया। परन्तु शनक ने स्वयं राज्य न भोगकर अपने पुत्र को दे दिया। उसके बाद उसके पाँच वंशधरों ने क्रमशः १३८ वर्षों तक मगध का शासन किया।

तदनन्तर मगध पर शिशुनागवंशीय राजाओं का आधिपत्य स्थापित हुआ। इस वंश का पाँचवाँ राजा बिम्बिसार हुआ। बिम्बिसार का पुत्र अजातशत्रु हुआ। जैन-साहित्य में बिम्बिसार 'श्रेणिक' नाम से और अजातशत्रु 'कूणिक' नाम से प्रसिद्ध था। शिशुनागों के समय (ईसा के छह सौ वर्ष पहले) बिहार में बौद्ध धर्म और जैनधर्म, अर्थात् श्रमण-संस्कृति का सूत्रपात हुआ। वैशाली भारतीय गणतन्त्र की उद्गम-भूमि बनी और बोधगया बुद्ध की सम्बोधि-प्राप्ति का उद्गम-स्थल बना।

वैशाली के लिच्छवियों को शिशुनागों के अधीनस्थ होना पड़ा था। लिच्छवि-कुल में ही श्रमण-संस्कृति के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर भगवान्

महावीर का आविर्भाव हुआ था। शिशुनाग-वंश के बाद नन्दवंश (शूद्रवंश) का राज्य मगध (बिहार) में प्रतिष्ठित हुआ। इसके बाद यहाँ मौर्यवंश का सिक्का जमा। मौर्य वंश का संस्थापक भारत-सम्राट् चन्द्रगुप्त और उसके पौत्र सम्राट् अशोक का स्थान बिहार की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की दृष्टि से चिर-स्मरणीय है। सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में ही चाणक्य ने अपनी राजनयिक कूटनीति के द्वारा बिहार की संस्कृति को शास्त्रीय गरिमा से संवलित किया। चाणक्य का ही अपर नाम कौटिल्य था, जिनका 'अर्थशास्त्र' ग्रन्थ आज भी प्रासंगिक और कालेस्तीर्ण (काल की सीमा से परे) है।

हिन्दू-राज्यों के बाद मुसलमानी सल्तनत का दौर-दौरा बिहार में शुरू हुआ। फलतः, बिहार की सांस्कृतिक सरिता में एक और धारा आ मिली और वह पहले की अपेक्षा अधिक वेग से प्रवाहित हो चली। इस प्रवाह की ततोऽधिक (इससे भी अधिक) प्रखरता अँगरेजी-काल में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। इस प्रकार, अनेक सभ्यताओं के उत्थान-पतन के बीच बिहार की संस्कृति निरन्तर अपनी परम्परा को पुष्ट करती हुई बहुजन-हित की भावना को प्रशस्तता प्रदान करती रही।

बिहार की सांस्कृतिक उपलब्धियों या विशेषताओं की दृष्टि से यदि कहा जाय, तो यह अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा, भारत में सबसे पहले आर्य-सभ्यता और संस्कृति का सूत्रपात बिहार में ही हुआ।

वेदान्त-शिक्षा में बिहार की अग्रगण्यता सर्वविदित है। मिथिलेश्वर महाराज जनक ईश्वर-तत्त्व के विशेषज्ञ थे। उनसे शिक्षा ग्रहण करने के लिए महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासदेव के पुत्र मुनि शुक्रदेवजी भक्तिभावपूर्वक नौ दिनों तक उनके द्वार पर खड़े रह गये थे। प्रतिदिन सैकड़ों महर्षि उनसे वेदान्त-तत्त्व सीखने आते थे।

न्यायशास्त्र के आविष्कार का श्रेय बिहार को है। बिहार की मिथिला से ही न्यायशास्त्र नवद्वीप गया और फिर, मगध से काशी जाकर 'बनारसी' बन जानेवाले 'मगही' पान की तरह नवद्वीप (नदिया : बंगाल) न्याय का गढ़ बन गया। नवद्वीप के संस्कृत-विद्यापीठ की जब कल्पना भी नहीं थी, तब मुख्यतः बंगाल के और गौणतः अन्य प्रान्तों के भी अधिकतर विद्यार्थी संस्कृत-शिक्षा, विशेषतः दर्शनशास्त्र की शिक्षा के लिए मिथिला ही आते थे।

नव्यन्याय के ग्रह-ग्रन्थिल सूत्रों की अवतारणा और विवेचना भी बिहार में ही हुई। कपिल के सांख्यसूत्र का प्रचार भी इसी बिहार में सर्वप्रथम हुआ। न्यायदर्शन के अवतारक गौतम मुनि तथा सांख्यदर्शन के प्रतिपादक कपिल मुनि जैसे अवर्णनीय महिमावाले महापुरुषों को जन्म देने का गौरव मिथिला की पुण्यभूमि को ही प्राप्त है।

बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि अनीश्वरवादी दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपक्षियों में कुमारिलभट्ट, उदयनाचार्य और शंकराचार्य शीर्ष-स्थान के अधिकारी हैं। इनमें प्रथम दो बिहार के ही अधिवासी थे। कुमारिलभट्ट मीमांसा के वार्त्तिककार के रूप में जगद्विख्यात हैं। कहते हैं, मिथिला के महाराजा भैरवसिंह के समय में एक बार मैथिल विद्वानों की गणना की गई, तो उनमें तेरह सौ केवल मीमांसक निकले।

'बृहत्कथा' के अनुसार, व्याकरण के शलाकापुरुष एवं विश्वविश्रुत आचार्य पाणिनि की शिक्षा पाटलिपुत्र में ही हुई थी। प्रसिद्ध भाष्यकार महावैयाकरण कात्यायन पाणिनि के सहाध्यायी थे। भाष्यकार कात्यायन और वार्त्तिककार वररुचि मनेर (पटना) के ही निवासी थे। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के रचयिता एवं विधि-विशारद महर्षि याज्ञवल्क्य

और 'दण्डविवेक' के प्रणेता प्रसिद्ध विधि-वेत्ता वर्द्धमान उपाध्याय मिथिला के ही सारस्वत-रत्न थे।

(महाभाष्य के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर पतंजलि पाटलिपुत्र के निवासी थे। इन्होंने पुष्पमित्र शृंग को यज्ञ कराया था। द्रष्टव्य- 'वर्तमाने लट्' सूत्र पर भाष्य -सं०)

प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य आर्यभट्ट भी पाटलिपुत्र-निवासी थे। विष्णुशर्मा अपने पिता चाणक्य की तरह ही नीतिशास्त्र के मर्मज्ञ थे। उन्होंने पाटलिपुत्र के राजा सुदर्शन के उन्मार्गी पुत्रों को सन्मार्गी बनाने के लिए 'पंचतन्त्र' जैसे कालजयी नीतिग्रन्थ की रचना की थी। (कुछ विद्वान् कौटिल्य और विष्णुशर्मा को चाणक्य के ही उपनाम मानते हैं।- ले०) बिहार की संस्कृति के समुन्नयन तथा बिहार में नैतिकता की लहर फैलाने के कार्य में विष्णुशर्मा के शिष्य कामन्दक के 'कामन्दकीय नीतिसार' की ऐतिहासिक भूमिका रही है।

महाकवि बाणभट्ट इसी बिहार (शाहाबाद : भोजपुर) की धरती पर अवतीर्ण हुए और उन्होंने 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' जैसी अपूर्व गद्यकथा-कृतियों की अवतारणा की। अशोकपुत्र महेन्द्र को शान्तिदूत बनाकर भारतीय संस्कृति का प्रचार करने के निमित्त श्रीलंका भेजने का श्रेय बिहार को ही है। अशोकपुत्री संघमित्रा, जो संगीत की भी आचार्या थी, भारतीय आर्य-संस्कृति का प्रचार करने पटना से ही नौका द्वारा सिंहल गयी थी। पटना का वर्त्तमान महेन्द्रघाट आज भी इन दोनों बिहारी सांस्कृतिक-यात्रियों की ऐतिहासिक स्मृति को आवर्त्तित करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो महेन्द्र के नाम पर प्रसिद्ध पटना के गंगातट का वर्त्तमान 'महेन्द्र' मुहल्ला आज भी बिहार की सांस्कृतिक गौरव-गाथा से मुखर बना हुआ है।

सम्पूर्ण भारतीय आर्य-संस्कृति के प्रतीक मर्यादापुरुषोत्तम राम की पत्नी जगज्जननी सीता को

जन्म देने का गौरव बिहार की भूमि मिथिला को ही है। वैशाली की अम्बपाली जैसी विख्यात कलानर्त्तकी और मगध की महागणिका कोशा बिहार की ही विभूतियाँ थीं। मिथिला की सारस्वत विभूति, नारी-संस्कृति की अग्रदूतिका एवं विदुषी स्त्रियों में धुरिकीर्त्तनीया (अग्रगण्या) प्रसिद्ध नैयायिक पण्डित मण्डनमिश्र की शास्त्रार्थकुशला पत्नी भारती को कौन नहीं जानता? मण्डनमिश्र और आचार्य शंकर के मध्य सम्पन्न शास्त्रार्थ की सफल मध्यस्थता का श्रेय भारती देवी को ही है। (कुछ विद्वान् मानते हैं कि यह शास्त्रार्थ-भूमि नर्मदा-तटवर्ती माहिष्मती थी, मिथिला की 'महिषी' नहीं।- ले०)

महाराज शिवसिंह मिथिला के महामहिम महीपों में प्रथम पंक्ति के अधिकारी थे। उन्होंने गजनी के शासकों का घमण्ड चूर किया था। मैथिलकोकिल कवि विद्यापति इन्हीं शिवसिंह के सभापण्डित थे। शिवसिंह की रानी लखिमादेवी ठकुराइन मिथिला की अपांसुला(पवित्र) स्त्रियों में अलंकार-स्वरूपा थीं। इस प्रकार, बिहार ने बहुत प्राचीन समय से ही विद्या और कला के माध्यम से अपनी समुज्ज्वल आर्य-संस्कृति का स्वर्णिमा और क्रोशशिलात्मक मानदण्ड युग-युगान्त के लिए स्थिर कर दिया है।

प्राचीन समय का, साहित्य और संस्कृति का संरक्षक, विश्व का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय 'नालन्दा महाविहार' (नालन्दा : पटना) बिहार के ही सांस्कृतिक वैभव का अमर साक्षी है। इसमें दस हजार छात्र और लगभग डेढ़ हजार महाध्यापक थे। यहाँ सभी शास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी। चीन, स्याम, सिंहल (श्रीलंका) आदि देशों के विद्यार्थी शिक्षा पाने तथा अपनी सारस्वत शंकाओं के निवारण के लिए यहाँ आते थे। इस विश्वविद्यालय में एक विशाल ग्रन्थागार था, जिसकी महार्घ पुस्तकों को तत्कालीन अविवेकी मुस्लिम शासक बख्तियार बिन

खिलजी ने भस्मसात् कर दिया। कहते हैं, कई महीनों तक लगातार दिन-रात पुस्तकें जलती रहीं। आधुनिक काल में भी 'नवनालन्दा महाविहार' (पालि-शोधप्रतिष्ठान) में प्राचीन बृहत्तर भारत के प्रायः सभी बौद्ध देशों के छात्र सौगत-दर्शन का अध्ययन करते हैं।

'ईसा का भारत में आगमन' पुस्तक से पता चलता है कि ईसा बिहार के राजगृह की भूमि पर पधारे थे और उन्होंने वहाँ बौद्धों से पालि सीखकर धार्मिक शिक्षा ग्रहण की थी। सिक्खों के अन्तिम -दसवें गुरु श्री गुरु गोविन्द सिंह का जन्म पाटलिपुत्र की धरती पर ही हुआ और आज उसकी जन्मभूमि पटना सिटी (वर्तमान नाम 'पटना साहिब') सिक्ख-संस्कृति का अन्यतम भारत-प्रसिद्ध धर्मतीर्थ है।

इस प्रकार, बिहार की पुण्यभूमि पर अनेक महान् धर्म-प्रवर्तक तथा साहित्य और कला के माध्यम से आर्य-सभ्यता और संस्कृति के समुद्भावक आविर्भूत हुए हैं। फलतः, सांस्कृतिक समृद्धि से समलंकृत भारतीय राज्यों में बिहार सर्वाधिक ख्याति और प्रतिष्ठा का मेरुशिखर बना हुआ है।

ज्ञातव्य है कि सम्पूर्ण बिहार की ही भूमि पुरातात्त्विक महत्त्व की सम्पदाओं से खचित है। बिहार के पूर्वचर्चित ऐतिहासिक-सांस्कृतिक केन्द्रों के अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे उल्लेख्य स्थान हैं, जो अपनी प्राचीन ऐतिहासिक, पुरातात्त्विक और सांस्कृतिक आरोह-अवरोह की कहानी कहते हैं। ऐसे स्थानों में मुख्यतया पाटलिपुत्र (कुम्हार), बिहार शरीफ (उदन्तपुरी), राजगृह, बराबर पहाड़ (गया), आरा (आलवी), कारीसाथ, मसाढ़, सासाराम (सहस्राराम), रोहतासगढ़, भोजपुर, सुलतानगंज, कहलगाँव (विक्रमशिला महाविहार), मनेरशरीफ, रमपुरवा (चम्पारन), चम्पानगर (भागलपुर), मन्दार पर्वत (बौसी), चेचर (श्वेतपुर), कोल्हुआ, बसाढ़ (वैशाली) आदि के नाम परिगणनीय हैं।

ईसा की तृतीय-चतुर्थ शती के जैन कथाकार जैन-प्राकृत में रूपान्तरित कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' में बिहार के दो जनपदों— अंग और मगध की राजधानियों, चम्पानगर और राजगृह की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का पुष्कल वर्णन उपन्यस्त किया है। तदनुसार, तत्कालीन अंग और मगध-जनपद भारत के सोलह महाजनपदों में कूटस्थ थे और ललित-कलाओं के महान् केन्द्र के रूप में उनकी विश्वजनीन प्रख्याति थी।

मगध जनपद और उसकी राजधानी राजगृहनगर की तो बड़ी ही भव्य परिकल्पना संघदासगणी ने की है:-

“अस्थि मगहा जणवो धणधन्नसमिद्धदा-
णसद्धियगहवइकुलबहलगामसतसन्नमहिओ,
छायापुष्पफलभोजतरुगणसमगवणसंडमंडिओ,
कमलकुमुदकुवलय सोहिततलागपुक्खरिणिवप्पसाहीण
कमलानिलओ।”

“तत्थ मगहाजणवए रायगिहं नाम नयरं
दूरावगाढविस्थयसलिक्तखातोवगूढदढतरतुंग
पराणीयभयदपागारपरिगयं, बहुविहनयणाभिरा-
मजलभारगरुयजलहरगमणविधातकरभवणभरियं,
अणोगवाहपरिमाणपव्वयं, दिग्वाचारपभवं,
भडसंगहविणिओगरवनं, सुसीलमाहणसमण-
सुसायणअतिहिपूयनिरयवाणियजणोववोयं,
रहतुरयजणोधजणियरेणुगं, मयगलमातंगदाण पाणिय
पसमियविस्थिन्नरायमगं।”

(तथोक्त संस्करण, पृ०-३)।

अर्थात्, “धन-धान्य से समृद्ध तथा दान में श्रद्धा रखनेवाले गृहपति-कुलों से सम्पन्न सैकड़ों गाँवों से सुशोभित, उपभोग के योग्य फूलों और फलों से लदे छायादार पेड़ों से युक्त वनखण्ड से मण्डित तथा विविध प्रकार के कमलों से शोभित तडागों, पुस्करिणियों और क्यारियों से परिपूर्ण, लक्ष्मी का निवासभूत मगध नाम का जनपद है।”

“उसी मगध-जनपद में जल से भरी विशाल खाइयों और शत्रुओं के लिए भयजनक ऊँचे-ऊँचे

परकोटों से आवेष्टित, गगनचुम्बी महलों से विमण्डित, अतिशय उन्नत पर्वतों से परिवेष्टित, दिव्य आचारों की उद्गम-भूमि, वाणिज्य-व्यापार का केन्द्रस्थ, ब्राह्मणों, श्रमणों, अतिथियों और स्वजनों का सम्मान करनेवाले वणिग्जनों से परिपूर्ण, रथ के घोड़ों और जनसमूह के चलने से उड़नेवाली धूलि से धूसर, मतवाले हाथियों के मदजल से सिंचित और अतिविस्तृत राजमार्गों से सुशोभित राजगृह नाम का नगर है।”

उस महान् कथाकार ने राजा कपिल की राजधानी चम्पानगर को संगीत और पत्रच्छेद्य की कला में अभिरुचि रखनेवाले तथा नृत्य, गीत आदि से मुखरित ललित-गोष्ठी के प्रेमी नौजवानों और नवयुवतियों का केन्द्र कहा है। वाणिज्य-व्यापार की दृष्टि से चम्पानगर से कामरूप (असम) तक की भूमि एकमेक बनी रहती थी। सचमुच, संस्कृति के सुरभि-सलिल से प्रक्षालित तत्कालीन बिहार के अंग और मगध-जनपद की भूमि धर्म, अर्थ और काम की कमनीयता से समुद्भासित थी।

‘वसुदेवहिण्डी’ में बिहार के अनेक पहाड़, जंगल, नदियाँ, आदि भी वर्णित हैं, जिनमें यहाँ की सांस्कृतिक गरिमा की विविध मधुर-मौन कथाएँ निनादित हैं। निश्चय ही, बिहार के जनसामान्य, जातियाँ, धर्म-कर्म, आचार-व्यवहार, बोल-चाल, वाणिज्य-व्यवसाय-सबकी अपनी-अपनी सांस्कृतिक परम्परा है, जो पुराकाल से चली आती आर्य-सभ्यता के विकास की शृंखला में महत्वपूर्ण कड़ी की तरह स्वतः जुड़ती चली गयी है। ‘वसुदेवहिण्डी’ के परवर्ती जैन कथा-वाङ्मय में तो अंग और मगध-जनपद का भूरिशः उल्लेख सुलभ है।

वैदिक काल में भी, वेदों में बिहार का जो चित्र अंकित हुआ है, उससे भी बिहार की ऊँची सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का संकेत मिलता है। यजुर्वेद में, मगध के लोगों को परहितैषणा मे रत बताया गया है। सांस्कृतिक उन्नयन की दृष्टि से बिहार के अंग, मगध, विदेह आदि प्रान्तों में विदेह का नाम

सांस्कृतिक गतिविधि के अध्येताओं की जिह्वा पर प्रथमतः आता है। आर्य-संस्कृति को अत्यन्त शीघ्रता से अपनाकर आर्य-सभ्यता का प्रधान केन्द्र बननेवाले जनपदों में विदेह का स्थान सर्वाग्रणी है।

‘ऐतरेयब्राह्मण’ (८।४) में जहाँ आर्य देशों की चर्चा है, वहाँ विदेह-जनपद की गणना प्राच्य देशों के अन्तर्गत की गयी है। विदेहों का उल्लेख सर्वप्रथम ‘शतपथ ब्राह्मण’ (१।४।१।१०) में मिलता है। जैसा पहले संकेत किया गया है, विदेहों के राजा जनक अपने समय के ब्रह्म-विज्ञानियों में अग्रगण्य थे। संघदासगणी ने भी ‘वसुदेवहिण्डी’ में मिथिला के राजा जनक को एक यज्ञकर्त्ता राजा के रूप में उपस्थापित किया है। केवल राजर्षि जनक ही नहीं, अपितु उनके सभागुरु महर्षि याज्ञवल्क्य के कारण भी विदेह की प्रतिष्ठा समस्त आर्यावर्त में व्याप्त है।

वैदिक साहित्य में विदेह के दूसरे-दूसरे राजाओं और ऋषियों का भी उल्लेख है, किन्तु विदेह के यथार्थ गौरव के प्रतीक याज्ञवल्क्य और जनक ही हैं। राजा जनक के ब्रह्मज्ञान के लिए तैत्तिरीय ब्राह्मण (३०।१०।६६) में अनेक अनुशंसात्मक वाक्य आये हैं।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञान आर्य-संस्कृति का चरम उत्कर्ष है, जिससे आर्य-सभ्यता का महत्त्व आज भी सम्पूर्ण विश्व में अप्रतिहत है और जिसका विकास उस वैदिक युग में, प्रमुखतया बिहार के उल्लेखनीय प्राचीन जनपद विदेह अथवा मिथिला में ही हुआ।

३७, एस० बी० आई० ऑफिसर्स कालोनी,
काली मन्दिर रोड, हनुमान नगर,
पटना- २०



oooooooooooooooooooooooooooo

गद्य और पद्य दोनों का व्यवहार जिस काव्य में किया गया हो, उसे ‘चम्पू काव्य’ कहा जाता है। संस्कृत काव्य जगत् में इस चम्पूकाव्य की उपलब्ध परम्परा का प्रारम्भ त्रिविक्रम भट्ट (१०वीं शती) की कृति ‘नलचम्पू’ से होता है। इसी परम्परा में वेंकटाध्वरि (१६वीं शती का मध्यभाग) का काव्य ‘विश्वगुणादर्श-चम्पू’ महनीय है। आप कांची के समीप ‘अरणिशाल’ ग्राम के निवासी थे। आपके मामा ताताचार्य कर्णाट नरेश कृष्णराय के गुरु थे। आप रामानुज-सम्प्रदाय के ‘वडकलै’ मत के अनुयायी श्रीवैष्णव थे। आपकी अन्य रचनाएँ हैं- लक्ष्मीसहस्र, वरदाभ्युदय, उत्तररामचरित-चम्पू एवं यादवराघवीयम्।

‘विश्वगुणादर्श-चम्पू’ में विभिन्न स्थानों एवं तीर्थों का सुन्दर वर्णन कृशानु एवं विश्वावसु-इन दो गन्धर्वों के बीच वार्तालाप के रूप में हुआ है।

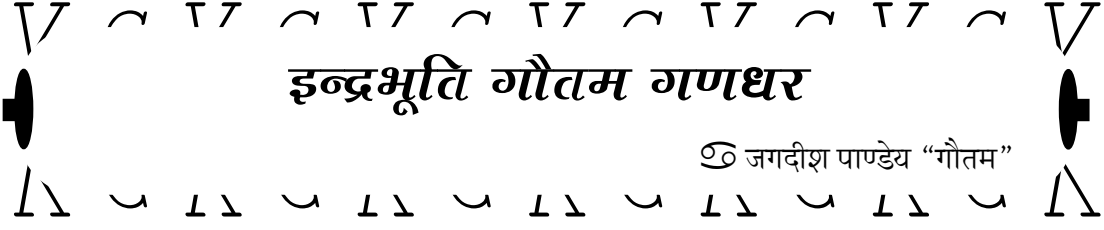
अयोध्या वर्णन : श्लोक सं०- ३७

भवसागरशोषणेन पथ्यद्यरणान्तःपुरजीवनौषधेन ।

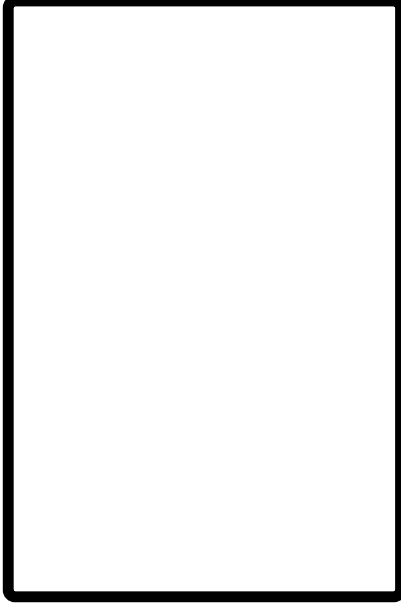
रजसा रथुनाथपादभाजा रचितांहःप्रशामामिमां नमामि । ।

संसार रूपी सागर को सुखा देनेवाले, गौतम की पत्नी अहल्या के लिए जीवनदायक ओषधि के समान श्रीरामचन्द्र के चरणों की धूलि से युक्त इस अयोध्या नगरी को प्रणाम करता हूँ।

oooooooooooooooooooooooooooo



जगदीश पाण्डेय "गौतम"



॥ श्रीः महावीरस्वामिने नमः ॥

॥ श्रीः गौतमगणधराय नमः ॥

तीर्थंकर भगवान् महावीर के पश्चात् गणधर

इन्द्रभूति
गौतम जैन
परम्परा में
सर्वाधिक
महत्त्वपूर्ण
व्यक्तित्व हैं;
आगम-
साहित्य के

साक्षात् रूप में ही है। भगवान् महावीर-गौतम संवाद जैन आगमों का प्राण है। श्रुतसागर की असीम गहराई में बैठकर भी सत्य की उक्त जिज्ञासा

जैन-मत के अनुसार जब भगवान् महावीर ने ज्ञान-प्राप्ति की, तब भी उनके श्रीमुख से ज्ञानमय वाणी निकल नहीं रही थी। देवों ने इस पर विचार किया, तब वे इस निश्चय पर पहुँचे कि जब तक 'गणधर' का प्रादुर्भाव नहीं होता है, तब तक भगवान् की वाणी निःसृत नहीं होगी। इसके बाद देवों ने गणधरों की सृष्टि की। ये ऐसे प्रश्नकर्ता बने, जिनके प्रश्नों का उत्तर देने के क्रम में भगवान् ने ज्ञानोपदेश किया। जैनियों के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम का ऐतिहासिक विवेचन यहाँ प्रस्तुत है—

—सं०

इन्द्रभूति गौतम के जीवन का अद्वितीय रूप है। २६०० वर्ष पूर्व के ये महान् व्यक्तित्व श्रमण-ब्राह्मण परम्परा के बीच सेतु बनकर आये थे, जिनके अवदानों से धार्मिक-सांस्कृतिक मिलन का मार्ग प्रशस्त हुआ। जिस प्रकार ब्रह्म की महिमा को ईश्वर अवतार लेकर प्रकट करते हैं, 'भगवन्त' के ऐश्वर्य को 'सन्त' उजागर करते हैं, उसी प्रकार भगवान् महावीर की वाणी को अर्थरूप देकर इन्द्रभूति गौतम ने इस जगत् के कल्याण के लिए जन-जन तक प्रकाशित किया।

इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य एवं प्रथम गणधर थे। श्रीकृष्ण के समक्ष जो स्थान अर्जुन का है, भगवान् बुद्ध के समक्ष आनन्द का है, वही स्थान जैन-आगमों में भगवान् महावीर के समक्ष इन्द्रभूति गौतम का है। वैदिक-परम्परा के गणाधिपति गणेश की तुलना यदि गौतम गणधर की जाये, तो अत्युक्ति नहीं होगी। गीतोपदेश

श्रीकृष्ण की
वाणी का
लाभ 'जन-
जन को
सम्भवतः'
नहीं प्राप्त
होता, यदि
उनके समक्ष

अर्जुन न होते, उसी प्रकार गौतम गणधर के अभाव में भगवान् महावीर की अमृत-वाणी का लाभ इस जगत् के प्राणियों को न होता, यह सम्भव है।

रणधर इन्द्रभूति गौतम-गोत्रीय श्रोत्रिय ब्राह्मण थे। इनका जन्म मगध जनपद के गोव्वरगाँव (नालन्दा, आजकल के बड़गाँव) में आज से लगभग २६०० वर्ष पूर्व हुआ था। संभवतः 'गो' का अर्थ ज्ञान है और बड़गाँव का भाव बड़ी बस्ती से है। अर्थात् ज्ञान का बड़ास्थान। जन्म-स्थान का विवरण इस प्रकार है— "मगहा गोव्वरगामे जाया तिण्णोव गोयमस गोत्ता।" भारत के आध्यात्मिक इतिहास में मगध का स्थान सर्वोपरि है। मगध जनपद में नालन्दा कुण्डलपुर तीर्थ का अपना गौरवमय इतिहास रहा है। 'नालन्दा' और 'कुण्डलपुर' शब्द का पर्याय-सम्बन्ध है— 'नालं ददाति नालन्दा।' अर्थात् कमल देनेवाला नालन्दा। कुण्डों से घिरा होने से कुण्डलपुर नाम अन्वर्थक है। इस कुण्डलपुर को 'बाबनपोखर' भी कहा जाता है। कमल तो कुण्ड में ही खिल सकता है। जहाँ कुण्ड (सरोवर) होगा, वही कमल होगा। कमल का सम्बन्ध 'भगवन्तो' से भी मना गया है—

पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः

पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति।

अर्थात् जहाँ पर भगवान् के चरण पड़ते हैं वहाँ देव कमल की रचना करते हैं।

२४वें तीर्थकर भगवान् की जन्मभूमि का सम्बन्ध इसी कुण्डलपुर नालन्दा से है। नालन्दा का एक दूसरा अर्थ भी सार्थक है— 'न अलं ददाति इति नालन्दा।' अर्थात्, जो व्यर्थ का कुछ भी नहीं देता है। इसीसे इस नालन्दा को विश्व का ज्ञान-प्रदाता कहा गया।

इन्द्रभूति गौतम की माता का नाम 'पृथ्वी' एवं पिता का नाम 'वसुभूति' था। इनके दो भाई वायुभूति और अग्निभूति का भी जन्म यही हुआ था। इस तरह प्राचीन मन्दिर की पावन भूमि पर इसी नालन्दा कुण्डलपुर में भ्रातृत्रय का जन्म हुआ था। ५० वर्ष की आयु में इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर के चरणों में प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। तप एवं भक्ति के प्रभाव से उन्हें २८ प्रकार की विशिष्ट लब्धियाँ प्राप्त थीं। परमगुरु गौतम स्वामी को ८०

वर्ष की आयु में 'गुणायौजी' (वर्तमान गोनाया, नवादा) में केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ तथा ६२ वर्ष की आयु में राजगृह तीर्थ में निर्वाणपद प्राप्त हुआ। मोक्ष-प्राप्ति की कामना से सूर्य की किरणों का आलम्बन लेकर अष्टापद गिरिराज की यात्रा की थी, रास्ते में लौटते समय १५०० तापसों को प्रबुद्ध किया। उन सभी तापसों को कैवल्य की प्राप्ति हुई।

भगवान् महावीर की प्रथम 'देशना' एवं तीर्थ प्रवर्तन पावापुरी के महसेन वन में, श्वेताम्बर मतानुसार केवलज्ञान प्राप्ति के दूसरे ही दिन हुआ था। दिगम्बर मतानुसार ६६ दिन बाद यह 'देशना' एवं तीर्थ प्रवर्तक राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर हुआ। चतुर्विध संघ की स्थापना भी भगवान् महावीर ने महसेन वन में किया।

श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका — ये तीर्थ के चार अंग हुए। संघ की स्थापना के पश्चात् भगवान् ने इन्द्रभूति गौतम आदि प्रमुख शिष्यों को त्रिपदी का उपदेश किया, जिससे गौतम गणधर ने व्याख्या कर 'द्वादशांगी' की रचना की।

जैन-परम्परा में 'तीर्थ' शब्द अति प्राचीन तथा अर्थपूर्ण है। अपना विशुद्ध मन ही उत्कृष्ट तीर्थ है। तीर्थ का प्रयोग पवित्रता के अर्थ में है। यदि तीर्थ-यात्रा करनेवाले का मन दूषित है, तो उसे तीर्थ-यात्रा करने का पूर्ण लाभ नहीं होगा। तीर्थकर पवित्र करनेवाले होते हैं, यथा— 'तीर्थम् करोति इति तीर्थकरः।' सनातन परम्परा में भी तीर्थ का स्वरूप निम्न प्रकार है—

तीर्थं परं किं? स्वमनोविशुद्धम्।

सत्यं तीर्थं क्षमातीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।

सर्वभूतदयातीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥

दानं तीर्थं तमस्तीर्थं संतोषस्तीर्थमुच्यते।

ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता॥

जैन-परम्परा में 'तीर्थकर' शब्द जितना प्राचीन है; अर्थपूर्ण है, 'गणधर' शब्द उतना ही अर्थपूर्ण है। वाणी को सूत्र रूप में संकलित करनेवाले गणधर

होते हैं। आचार्य मल्लधारी हेमचन्द्र के शब्दों में उत्तम ज्ञान-दर्शन आदि गुणों को धारण करनेवाले गणधर होते हैं— **उत्तमज्ञानदर्शनादिगुणाणां गणं धारयन्तीति गणधराः।**

भगवान् महावीर के ११ गणधरों में इन्द्रभूति गौतम को प्रथम स्थान प्राप्त था— **समणस्सणं भगवो महावीरस्स एक्कारस गणा एक्कारस गणहरा होत्था-तंजहा-इन्द्रभूर्ह, अग्निभूर्ह...** आदि। तीर्थंकर के तीर्थ में गणधर एक अत्यावश्यक उत्तरदायित्वपूर्ण महान् प्रभावशाली व्यक्तित्व होता है।

इन्द्रभूति गौतम, जो पहले चतुर्दश विद्याओं के पारगामी थे, भगवान् महावीर का शिष्यत्व प्राप्तकर 'चतुर्दशपूर्व' (पूर्वजन्म में अधिगत भगवान् की चतुर्दश विद्याओं के लिए यह शब्द जैन-परम्परा में रूढ़ है) के पारंगत, सर्वाक्षर-संयोग के विज्ञाता बने। गौतम में विदेहभाव था। उनके लिए 'उच्छूढ शरीरे' शब्द का प्रयोग हुआ है। शरीर होते हुए भी शरीर के संस्कार, ममत्व, आसक्ति आदि से अलग— **'विगतो देहो पस्य स विदेहः'**। गौतम शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है— **'गोभिस्तमो ध्वस्तं यस्य सः गौतमः।'** अर्थात्, ज्ञानरूपी प्रकाश के द्वारा अज्ञान रूपी अन्धकार जिसका नष्ट हो गया हो।

ऐसे थे इन्द्रभूति गौतम! इन्द्रभूति का पाण्डित्य अद्वितीय था। वेद एवं उपनिषद् का ज्ञान उनकी चेतना के कण-कण में समाया हुआ था। समस्त दर्शन, तर्क, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के ज्ञाता थे। ज्ञान के साथ जिज्ञासा-वृत्ति उनकी अपूर्व विशिष्टता थी। इसी जिज्ञासा के निराकरण हेतु भगवान् महावीर के सम्मुख प्रस्तुत हुए थे। किसी भी विषय के नवीन तथ्य को समझने के लिए वे सदा उत्सुक रहते, यह उनका सहज स्वभाव था, जो आगमों में आये स्थान-स्थान पर उनके प्रश्नों और भगवान् के समाधान से ध्वनित होता है।

इन्द्रभूति गौतम की शरीर की ऊँचाई भगवान् महावीर के बराबर थी। उन्हें **समहस्तोच्छ्रयः** सात हाथ ऊँचा कहा गया है और **(समचउरस संहाण**

संहिए) समचतुरस्र संस्थान से संस्थित था। गौतम की चर्या-विधि का वर्णन करते हुए आगमों में बताया गया है कि गौतम स्वामी प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करते थे, द्वितीय प्रहर में ध्यान और तृतीय प्रहर (मध्याह्नोत्तर) में भिक्षा के लिए स्वयं भ्रमण करते थे। चौथे प्रहर में फिर स्वाध्याय में लग जाते थे। रात्रि में पुनः प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में नीन्द और चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय करते थे।

इन्द्रभूति गौतम ने ५० वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की थी। जिस दिन भगवान् महावीर को कैवल्य हुआ, उसके दूसरे दिन ही उनकी प्रव्रज्या हुई। भगवान् महावीर की विद्यमानता में उन्हें केवल-ज्ञान नहीं हुआ। यद्यपि उनकी साधना परम उज्वल एवं उत्कृष्ट थी। उनके द्वारा दीक्षित हजारों शिष्य 'केवली' हो गये, फिर भी गौतम स्वामी को ३० वर्ष तक केवल-ज्ञान नहीं हुआ। गौतम के अन्तःकरण में भगवान् महावीर के प्रति जन्म-जन्मान्तर से संश्लिष्ट अनुराग था। वही उन्हें वीतराग बनने से रोक रहा था। कार्तिक वदी (कृष्ण) अमावस की रात्रि में भगवान् का परिनिर्वाण, पावापुरी में हो गया, उसी रात्रि के उत्तरार्द्ध में इन्द्रभूति ने अपने राग को क्षीण किया और आत्मचिन्तन की उच्चतम दशा पर आरोहण करते हुए 'केवल-ज्ञान' प्राप्त किया।

अब हम गौतम स्वामी द्वारा भगवान् से (उनके जीवनकाल के) पूछे गये कुछ प्रश्न तथा भगवान् द्वारा बताये गये समाधान की चर्चा करते हैं, जो गौतम ने अपने तथा लोकोपकार हेतु पूछा था।

एकबार गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा— **'भन्ते! कषाय कितने प्रकार के है?' भगवान् ने कहा— 'गौतम! कषाय चार प्रकार के हैं— क्रोध, मान, माया और लाभ।'**

गौतम— **'भन्ते! क्रोध आदि कषायों की आधार-भूमि क्या है?' भगवान्— "गौतम! कषाय आत्म-प्रतिष्ठित (स्व-आधार से), पर-प्रतिष्ठित, उपाय-प्रतिष्ठित एवं अप्रतिष्ठित (बिना कारण) यों चार प्रकार से कषाय की वृत्ति होती है।'**

गौतम- 'भन्ते! क्रोध की उत्पत्ति के कितने कारण हैं?' भगवान् ने उत्तर दिया - 'गौतम! चार प्रकार से क्रोध आदि की उत्पत्ति होती है। क्षेत्र से, वस्तु से, शरीर से एवं उपाधि से।'

एकबार फिर गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा- 'कई कहते हैं, शील ही श्रेय है, दूसरे कहते हैं- श्रुत (ज्ञान) श्रेय है और तीसरे कहते हैं अन्योन्य निरपेक्षशील और श्रुत श्रेय है। भगवान्! इसमें किसका कथन योग्य है?' उत्तर में भगवान् कहते हैं- उन सबका कथन ऐकान्तिक होने से मिथ्या है। संसार में चार प्रकार के पुरुष हैं- १. शील सम्पन्न हैं, किन्तु श्रुतसम्पन्न नहीं, २. श्रुतसम्पन्न हैं, किन्तु शीलसम्पन्न नहीं, ३. शीलसम्पन्न भी है और श्रुतसम्पन्न भी, ४. शीलसम्पन्न भी नहीं और श्रुतसम्पन्न भी नहीं।

प्रथम कोटि का पुरुष पाप से रहित है, ज्ञान से रहित है, वह अंशतः धर्म का आराधक है। दूसरी कोटि का पुरुष अंशतः धर्म विराधक है। तीसरी कोटि का पुरुष सम्पूर्ण रूप से धर्म का आराधक है। चौथी कोटि का पुरुष सम्पूर्ण रूप से धर्म का विराधक है।

गौतम ने कभी फिर पूछा- "भगवन्! जीव किस कारण से अल्पकालिक आयुष्य प्राप्त करता है? भगवन् ने समाधान किया- 'तीन कारणों से जीव अल्पकालिक आयुष्य प्राप्त करता है- हिंसा करने से, असत्य वचन बोलने से, श्रमण ब्राह्मण को सदोष आहार एवं जल देने से।"

गौतम ने पूछा भगवन्! जीव किस कारण से दीर्घायुष्य पाता है? भगवान् ने कहा- गौतम! तीन कारण से जीव दीर्घायुष्य पाता है- अहिंसा की साधना (मन, वचन, कर्म) से, सत्य-भाषण से, श्रमण-ब्राह्मण को निर्दोष आहार एवं जल देने से।

गौतम ने पूछा भगवन्! भगवान् को सिद्ध एवं आदि-अन्त से रहित क्यों कहा जाता है? भगवान् ने उत्तम ज्ञान दिया और कहा कि जिस प्रकार अग्नि से जला देने से बीज की प्रजनन-शक्ति

नष्ट हो जाती है, वह पुनः अंकुरित नहीं हो सकता, इसी प्रकार सिद्ध भगवान् ने कर्मरूप बीजों को दग्ध कर डाला है, अतः जन्म के नये अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकते।' इस तरह असंख्य प्रश्न गौतम ने लोकहित में भगवान् से पूछा।

अभी कुछ काल पहले, पूज्य गणिनी प्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा एवं अथक प्रयास से इसी कुण्डलपुर, नालन्दा (बिहार) में शासनपति भगवान् महावीर की खड्गासन प्रतिमाजी विराजमान् की गई है, साथ ही अलग से आदिनाथ भगवान् की प्रतिमा, त्रिकाल चौबीसी, नवग्रह मन्दिर, नन्द्यावर्तमहल, जिनालय आदि उद्घाटित हुए थे। यह एक चमत्कार ही है कि कुछ ही समय बाद भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य एवं गणधर गौतम स्वामी का आवाहन इस कुण्डलपुर की धरती पर पञ्चाह्निका महोत्सव के साथ सम्पन्न हो रहा है। इसके लिए मैं हृदय से उन सभी प्रेरणादाता आज्ञा प्रदाता श्री कैलास सागरजी, म० सा० परमपूज्या श्रीविचक्षण श्री म० सा०, प० पू० श्री मणिप्रभाजी म० सा० आदि समस्त साधु साध्वी ससंघ एवं धर्मानुरागी-बन्धुओं का नमन करता हूँ।

गुण गाऊँ गौतम तणा लब्धितणां भण्डार
बड़ा शिष्य भगवंतना जनि सहु संसार।।

ॐ ह्रीं श्री गौतमगणधरसआमिने, जन्म जरा
मृत्युविनाशनाय, जलं, चन्दनं, अक्षतं, पुष्पं, नैवेद्यं,
दीपे, धूपं, फणं, आर्घ्यं, मनसापरिकल्पयामि,
निर्वपामीति स्वाहा।

शुभम्।

जय कुण्डलपुर। जय महावीर। जय गौतम प्रभु।

जय धर्मानुरागी बन्धुओं।।

नमोऽर्हत-सद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यः।।

पटना जी० पी० ओ०, पटना,
(बिहार)।



प्रसाद के नाटकों में राष्ट्रीय चेतना

डा० तारकेश्वर नाथ सिन्हा

मानवीय कार्य-व्यापारों की सशक्त अभिव्यक्ति नाटकों में होती है। नाटक के पात्र विभिन्न हाव-भावों का अभिनय कर पाठक या दर्शक के हृदय पर अमिट छाप छोड़ते हैं। सफल नाटककारों में समय की पकड़ बड़ी जबरदस्त होती है, इसलिए स्वतन्त्रता के पूर्व अधिकांश हिन्दी नाटकों में राष्ट्रीय-चेतना का ओजस्वी स्वर अधिक मुखरित हुआ है। लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुभाषचन्द्र बोस आदि राष्ट्रप्रेमी महापुरुष उस समय भारत की

परतन्त्रता की बेड़ी काटने में सक्रिय थे। इन गरम दल और नरम दल के नेताओं का

[साहित्य की सभी विधाओं में नाटक चित्र के समान चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा नाटककार के विचारों का सम्प्रेषण करने के कारण श्रेष्ठ माना गया है। इस दृश्यकव्य के माध्यम से जन-जन तक राष्ट्रीय चेतना का स्वर पहुँचानेवाले नाटककारों की भी भूमिका भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में नगण्य नहीं कही जा सकती। नाट्य-साहित्य के माध्यम से देशप्रेम का अलख जगानेवाले, छायावाद के एक स्तम्भ महाकवि जयशंकर प्रसाद के नाटकों में राष्ट्रीय-भावना की विवेचना कर रहे हैं, डा० तारकेश्वर नाथ सिन्हा।

—सं०

एकमात्र उद्देश्य था कि किसी भी कीमत पर देश को आजाद करें, इसलिए वे देशवासियों में देशप्रेम की भावना भरकर उन्हें आन्दोलन के लिए प्रेरित करते थे। फलस्वरूप, भारत के सच्चे सपूतों में देशप्रेम की भावना हिलोर लेने लगी। हिन्दी के प्रमुख नाटककारों ने भी अपने नाटकों के माध्यम से राष्ट्रीय जागरण का मन्त्र फूँकना शुरू किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बाबू राधाकृष्ण दास, जयशंकर प्रसाद तथा हरिकृष्ण प्रेमी उस युग के ऐसे सशक्त नाटककार

थे, जिन्होंने राष्ट्रीय-चेतना से ओत-प्रोत कई नाटकों की रचना कर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया और राष्ट्रीय चेतना के स्वर को ऊर्जस्वल किया।

प्रसाद के नाटक हिन्दी साहित्य के अन्य विधाओं की तुलना में अपेक्षाकृत निर्धन हिन्दी नाट्य-विधा इनसे समृद्ध हुई है। परिमाण और गुण दोनों की दृष्टियों से प्रसाद के नाट्य-साहित्य का अपना महत्व है। इसमें ऐसी गरिमा है, जिसने अनेक नाट्य-अध्येताओं शोधकर्ताओं और रंगकर्मियों को आकृष्ट और प्रभावित किया है।

प्रसाद के नाटकों में एक विशेष प्रकार का उदात्त तत्व है, जो इन्हें महत्वपूर्ण

बनाता है। इनमें भारत की सांस्कृतिक गौरव-गरिमा और राष्ट्रीय-चेतना को वाणी मिली है। इनमें एक प्रबुद्ध व्यक्तित्व का चिन्तन व्यक्त हुआ है, एक संवेदनशील कवि की भावुकता मुखरित हुई है। विषयवस्तु और चेतना की दृष्टि से प्रसाद के नाटक अवश्य ही मूल्यवान् है।

स्वतन्त्रता का घोष करनेवाले किसी लेखक ने कहा था— “नैराश्यपूर्ण वर्तमान और भविष्य में प्रसादजी के आशावादी नाटक राष्ट्रीय-आन्दोलन

को अग्रसर करने के अनुपम साधन है। इस रूप में उनका महत्व किसी राष्ट्रीय नेता से कम नहीं।” लेखक का यह कथन आज के भारत के लिए भी उतना ही सच है, जितना कि स्वतन्त्रता के पूर्व भारत के लिए था। आज देश स्वतन्त्र है, पर सच पृछा जाये, तो आज तब से अधिक राष्ट्रीय चेतना की आवश्यकता है। प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त तथा उनके दूसरे नाटक आज भी राष्ट्रीय जीवन के लिए महत्वपूर्ण है और सदैव रहेंगे। उनका साहित्यिक मूल्य सदैव के लिए है, राष्ट्रीय-मूल्य भी उतना ही है, उससे कम नहीं। श्री ब्रजरत्नदास के शब्दों में “प्रसाद जी के हृदय में देश-प्रेम भरा हुआ था, पर वह कर्मशील न होकर मानवशील ही अधिक थे। इसलिए देश-हितकारी कार्यों में न हाथ बँटा सकने पर अपनी साहित्यिक रचनाओं से ही देश का जो उपकार कर सकते थे वही उन्होंने यथा-शक्ति पूरी तौर से किया।” (हिन्दी नाट्य साहित्य : प्रकाशक हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, १९६५)।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि प्रसादजी के सभी नाटकों का आधार-स्तम्भ इतिहास है; परन्तु उनकी प्रेरणा है— राष्ट्रीयता (देशभक्ति)। इसलिए प्रसादजी ने अतीत के गौरव को ऐसे भव्य रूप में रूपायित किया है, जो कि सहज ही पाठकों का मन आकर्षित कर लेता है, और उनमें राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना को जाग्रत कर देता है। प्रसादजी ने अपने उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय इतिहास के उन्हीं पृष्ठों को साकार रूप में प्रदान किया है, जो कि ऐसी राष्ट्रीय स्फूर्ति को उत्पन्न करने में पूर्ण सक्षम है। वस्तुतः वर्तमान, भविष्य को रूप प्रदान करने के लिए सदैव से ही अतीत से प्रेरणा ग्रहण करता रहा है और करता रहेगा।

कतिपय विद्वानों का मत है कि प्रसादजी ने अतीत को ही अपने नाटकों की विषय-वस्तु बनाकर अपनी पलायनवादी मनोवृत्ति का ही परिचय दिया है। लेकिन उनकी यह धारणा मूलतः भ्रान्ति पर ही

आधारित है। निश्चय ही, यदि कोई लेखक वर्तमान जीवन की विभीषिकाओं से पलायन कर, अतीत की स्वप्न-मरीचिकाओं में अपने को भुलाने के लिए ही शरण ले तो वह श्लाघनीय नहीं कहा जा सकता। लेकिन अगर कोई लेखक अतीत को प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु के रूप में ग्रहण कर वर्तमान जीवन को गति प्रदान करने के लिए ही उसका चित्रण करे तो अवश्य ही वह स्वस्थ प्रगति का विधायक माना जाएगा। प्रसादजी ने अतीत-कालीन कथावस्तु का चुनाव इसी दृष्टिकोण के आधार पर किया है। डॉ० सत्येन्द्र ने अपने ‘हिन्दी नाटक साहित्य’ शीर्षक लेख में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया है कि— “इतिहास को प्राणवान् करके प्रसादजी ने आधुनिक युग के लिए विचार सामग्री दी; उसको दिशा का दर्शन कराया। समस्या-नाटक उन्होंने नहीं लिखे पर समस्याओं से वे पीछे नहीं हटे। ऐसी कौन-सी सामयिक समस्या थी, जो उनके नाटकों में शाश्वत मानवीय-समस्या के धरातल पर प्रस्तुत न हुई हो।” (हिन्दी नाट्य साहित्य : डा० सत्येन्द्र)।

‘विशाख’ की भूमिका में अपनी कृतियों के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए प्रसादजी ने भी लिखा है— “इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति के अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है। हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और भी कोई आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है। मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने में बहुत प्रयत्न किया है।” (भूमिका से)

अतएव, स्पष्ट है कि प्रसादजी ने वर्तमान को दृष्टिकोण में रखकर ही अतीत का सफल चित्रण किया है।

प्रसादजी ने भारत के गौरवपूर्ण चित्र को अपने नाटकों में रंग दिया है। उनके सभी नाटकों की कथावस्तु ऐसे भव्ययुग की याद दिलाती है, जो प्रत्येक दृष्टि से बेजोड़ हैं। उनकी राष्ट्रीय-भावना का प्रत्यक्ष प्रभाव कथावस्तु के चुनाव पर विशेष रूप से पड़ा है। प्रसाद ने 'जनमेजय और परीक्षित' से लेकर 'हर्षवर्द्धन' तक के काल को अपने नाटकों का आधार बनाया है। सिर्फ 'प्रायश्चित' (१६१३ ई०) को छोड़कर सभी नाटकों के कथानक इन दो सीमान्तों के बीच से ही लिए गये हैं।

नाटक के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद के अभ्युदय से राष्ट्रीय-चेतना का पूर्ण विकास हुआ। उस समय भारत की दीन-हीन जनता अंगरेजों के गुलाम बनकर उनके तलबे सहला रही थी। अंगरेजों के बहकावे में आकर भारतीय ही एक दूसरे का शोषण कर रहे थे। भारतीय संस्कृति के पुजारी प्रसादजी की आत्मा को देश की इस दुर्दशा ने झकझोर दिया। वे परोक्ष रूप से भारतीय वीरों को जगाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने इतिहास के उन अंशों को प्रकाश में लाया, जो राष्ट्रीय-चेतना से ओतप्रोत थे। यद्यपि 'जनमेजय' का नागयज्ञ (१६२६ ई०) नाटक का प्रेरणा स्रोत सन् १६२६ ई० में होनेवाला साम्प्रदायिक दंगा है, तथापि प्रसादजी ने इसमें दो विरोधी जातियों (आर्यों और नागों) का संघर्ष दिखलाया है। वे अपने देश और धर्म को सर्वोच्च मानते थे, इसलिए अपने नाटकों में राष्ट्र की रक्षा और आत्मसम्मान पर बराबर बल देते रहे। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी आदि नाटक इसके उत्कृष्ट प्रमाण हैं। वे अहिंसा या हिंसा या किसी मार्ग को अपनाकर देश की स्वतन्त्रता चाहते थे। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में राष्ट्रीयता का उद्घोष प्रसादजी चाणक्य के माध्यम से कराते हैं—

“तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मन का अवसान है न? परन्तु आत्म-सम्मान इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध, का

भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा। क्या तुम नहीं देखते हो कि आगामी दिवसों में आर्यावर्त के सब स्वतन्त्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे।” (चन्द्रगुप्त, पृष्ठ ५१-५२ : भारती भण्डार, इलाहाबाद)

इसी एक मन्त्र पर सिंहल पर्यन्त समस्त भारत को अपना देश मानकर अखण्ड भारत के कल्याण के लिए प्राण लुटा देने की कामना करता है। अलका और मालविका भी राष्ट्र की रक्षा के लिए पुरुषों का साथ देती हैं तथा देशवासियों में जीवन एवं जागृति का स्वर भरती हैं।

आज भी क्षेत्रीयता का विष भारत में फैला है, अतः प्रसादजी की यह उक्ति आज के सन्दर्भ में सार्थक और प्रासंगिक है। प्रसादजी ने अपने नाटकों की संवाद-योजना में राष्ट्रीय-चेतना का ऐसा संचार कर दिया है, जिससे भारतीयों की आत्मा शौर्य से भर उठती है; क्योंकि विदेशियों ने भी भारत की महिमा का गुण-गान किया है। वे इसकी अनुपम संस्कृति से प्रभावित हैं, इसीलिए वे इसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। भारत की पवित्र और आदर्श भूमि का उल्लेख कार्नेलिया चन्द्रगुप्त के सामने इस प्रकार करती है—

“यहाँ के श्यामल कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुए शैलश्रेणी, हरी-भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीतकाल की धूप और भोले कृषक तथा सरल कृषक बालिकाएँ बाल्यकाल की सुनी कहानियों की जीवित प्रतिमाएँ हैं। यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि— भारतभूमि क्या भुलाई जा सकती है? कदापि नहीं! अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है” (चन्द्रगुप्त, पृष्ठ १३१)।

‘स्कन्दगुप्त’ और ‘चन्द्रगुप्त’ में तो राष्ट्रप्रेम की भावना अन्य नाटकों की अपेक्षा अधिक निखरी हुई है तथा ‘स्कन्दगुप्त’ में बन्धुवर्मा से कहलाया भी गया है, “तुम्हारे शस्त्र ने बर्बर हूणों को बता दिया

है कि रणविद्या केवल नृशंसता नहीं है। जिनके आतंक से आज विश्वविख्यात रूप साम्राज्य पादाक्रान्त है, उन्हें तुम्हारा लोहा मानना होगा और तुम्हारे पैरों के नीचे दबे हुए कण्ठ से उन्हें स्वीकार करना होगा कि भारतीय दुर्जय वीर है” (स्कन्दगुप्त, पृष्ठ १०५, प्रसाद मन्दिर, वाराणसी, १९८३ ई०)।

इसी क्रम में ‘स्कन्दगुप्त’ नाटक में महाप्रतिहार को सावधान करते हुए पृथ्वीसेन का यह कथन राष्ट्रीय-भावना से ओतप्रोत है। बाहरी भय उत्पन्न होने पर आपसी मतभेद भुलाकर ही राष्ट्रीय-सीमाओं की रक्षा सम्भव है—

“महाप्रतिहार! पश्चिम और उत्तर में से काली घटाएँ उमड़ रही हैं। यह समय अन्तर्विद्रोह का नहीं है” (स्कन्दगुप्त, पृष्ठ ५५)।

‘स्कन्दगुप्त’ में प्रसाद की राष्ट्रीय-चेतना और भी उज्वल, तीव्र, प्राणवान्, देशसेवा, कष्ट-सहिष्णुता और निःस्वार्थ-बलिदान के चमकते चित्र हैं। पर्णदत्त, बन्धुवर्मा, देवसेना, जयमाला और स्कन्दगुप्त सभी स्वतन्त्रता के पुजारी हैं। उसकी रक्षा के लिए हँसते-हँसते मर मिटनें के लिए तथा देशप्रेम की बलिवेदी पर चढ़ जाने के लिए तत्पर हैं। इस प्रकार प्रसादजी को, जो प्राचीन भारतीय आदर्शों को प्रस्थापित करने में जो सफलता प्राप्त हुई है वह हिन्दी-संसार में किसी भी अन्य साहित्यकार को न मिल सकी।

विदेशी वस्तुओं के प्रति आकर्षण तथा विदेशी संस्कृति के प्रति निष्ठावान् होना राष्ट्रीयता के प्रति विश्वासघात करना है। जो लोग बात पीछे विदेशीपन की दुहाई देते हैं, जो केवल विदेशी शिक्षा प्राप्त कना जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं, जिन्हें अपनी हर बात हेय दिखाई देती है, उनसे हमारा निवेदन है कि— ‘यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलवधू को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में’ (स्कन्दगुप्त : पृष्ठ १००)। कहने की आवश्यकता

नहीं कि सैनिक के इस कथन में राष्ट्रप्रेमी प्रसादजी के हृदय हुई है, जो अराष्ट्रीय तत्वों को देखकर घनीभूत हो उठती थी।

प्रसादजी ने अपने नाटक में कुछ ऐसे आदर्श पात्रों का संघटन किया है, जिनका कि उदात्त चरित्र स्वयमेव राष्ट्रीय स्वाभिमान की वस्तु बन जाता है। चाणक्य, सिंहरण अलका आदि पात्र इसी कोटि के हैं, जो कि अनायास ही जन-जीवन की श्रद्धा के अधिकारी बन जाते हैं और स्वयं के साथ ही राष्ट्र को भी ऊँचा उठा देते हैं। ये सभी पात्र ऐसे देशभक्त हैं, जो कि राष्ट्र के लिए अपने तुच्छ वैयक्तिक स्वार्थों को तिलांजलि देकर अपने प्राणों को हथेली पर लिए सदैव ही प्रस्तुत रहते हैं, चन्द्रगुप्त अपने राष्ट्र की रक्षा के “मरण से भी अधिक भयानक का अलिंगन करने के लिए सदा” तैयार रहता है। चाणक्य अपने कर्तव्य-पथ पर सुख और दुःख में समान रूप से अडिग बना रहता है। वह एक महान् कर्मयोगी है। सिंहरण और अलका तो भारतीय संस्कृति के प्रतीक उदात्त पात्रों के रूप में हमारे सामने आते ही हैं। वे भारतीय संस्कृति के उदारता, सहिष्णुता, निर्भीकता, स्वार्थ-त्याग आदि श्रेष्ठतम गुणों से विभूषित हैं।

इस प्रकार प्रसादजी ने इन आदर्श पात्रों के संघटन तथा उनके चरित्र-चित्रण द्वारा भारतीय संस्कृति के उदात्त तथा महत्तम रूप को ही दिखाने का प्रयास किया है, जो कि उनकी राष्ट्रीय-भावना के ही सूचक-तत्व हैं।

सशक्त, ओजपूर्ण संवाद-योजना के अतिरिक्त प्रसादजी की गीत-योजना में भी राष्ट्रप्रेम की पताका लहरा उठी है। राष्ट्रीय चेतना की धारा अलका के इस गीत में वह रही है—

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती-
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो-
प्रशस्त पुण्यपंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

(चन्द्रगुप्त : पृष्ठ ११७)

इतना ही नहीं, प्रसादजी ने विदेशियों के मुँह से भी भारत-भूमि का गुणगान करवाया है। प्रसादजी का मत है कि भारत ही विश्व का प्रथम ज्ञानगुरु है और वही सम्पूर्ण विश्व-सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र-स्थल है। अपनी 'भारतगीत' शीर्षक कविता में उन्होंने यही भावधारा अभिव्यंजित की है। कार्नेलिया भारतवर्ष को दग्ध और अज्ञान विश्व का एकमात्र अवलम्ब मानकर इस देश को मधुमय कहती है—
अरुण यह मधुमय देश हमारा।

जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

(चन्द्रगुप्त, पृष्ठ ८६)

अतः, भारत का प्राचीन गौरव हमारे अन्दर स्फूर्ति का भाव भर देता है।

प्रस्तुत गीत में भारत का मनमोहक सौन्दर्य ही नहीं, इसके द्वारा ज्ञान का प्रकाश और असीम सहृदयता का भी संकेत मिलता है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक का एक पात्र मातृगुप्त भारत की महिमा का राष्ट्रप्रेम इस प्रकार व्यक्त करता है—

किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यही।

हमारी जन्म-भूमि थी यहीं, कहीं से हम आये थे नहीं।

जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।

निछावर कर दे हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

(स्कन्दगुप्त, पृष्ठ १४३-१४४)

इस प्रकार प्रसादजी के नाटक 'स्कन्दगुप्त' में पारस्परिक कलह से जर्जर भारत का चित्रण है, और 'चन्द्रगुप्त' नाटक में तो राष्ट्रीय-चेतना का साकार स्वरूप देखने को मिलता है। उनके अन्य नाटकों में भी राष्ट्रीय-चेतना के अनेक चित्र मिलते हैं।

यद्यपि राजेश्वर प्रसाद 'अर्गल' ने प्रसाद के देश-प्रेम को संकुचित भावनापूर्ण मानते हुए उनपर यह आरोप भी लगाया है कि वह अपने देश के सामने दूसरे किसी भी देश की प्रशंसा नहीं सुन सकते। परन्तु यह आरोप निराधार ही है, क्योंकि वास्तविकता तो यह है कि प्रसाद का राष्ट्र-प्रेम

विश्व-प्रेम में बाधक न होकर विश्व-प्रेम का एक माध्यम है। अपनी नाट्य-रचना 'राज्यश्री' (१९१५ ई०) के अन्त में उन्होंने विश्व-कल्याण व सुखी मानव समाज के लिए परम पिता परमात्मा से प्रार्थना भी की है। अतः उनकी राष्ट्रीयता को संकुचित-भावनापूर्ण मानना उचित नहीं।

सच तो यह है कि प्रसाद जी ने संसार की आँखों को भारतीय संस्कृति की पुनीत झँकी दिखलाई और उनकी राष्ट्रीयता ने वह रूप धारण किया जो विश्वभावना का तनिक भी विरोधी नहीं है।

'राज्यश्री' में उन्होंने 'हर्ष' और 'राज्यश्री' द्वारा-लोक सेवा व आत्म-त्याग का जो आदर्श प्रस्तुत किया है, उसे देखकर चीनी यात्री ह्वेत्सांग ने यही मनोकामना की थी कि भारत से मैंने जो सीखा है, वह अपने देश में सुनाऊँ।

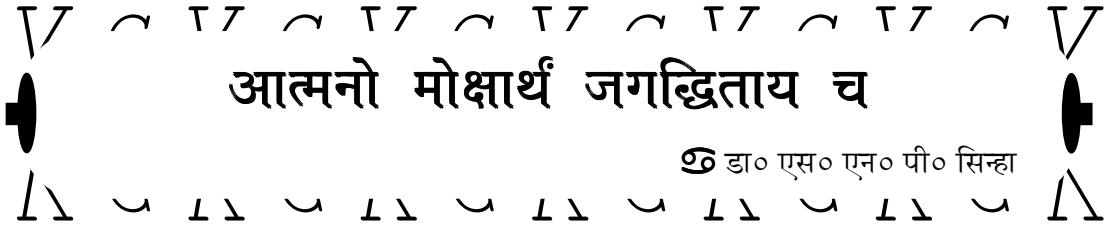
इस प्रकार प्रसादजी के नाटकों में नाटककार की राष्ट्रीय-भावना उज्वल तीव्र, प्राणवान् व त्यागमयी है। यदि एक ओर उसमें अतीतकालीन भारत की स्वर्ण-झँकी प्रस्तुत की गयी है, तो दूसरी ओर, वर्तमान समस्याओं का हल भी उसमें खोजा गया है। वस्तुतः प्रसादजी के सभी नाटक ज्वलन्त राष्ट्रीय-चेतना के अमर स्मारक हैं, जो कि युगों तक भारतवासियों के हृदय में देशभक्ति की भावना को जाग्रत करते रहेंगे। अतः प्रसाद जी के नाटक आज भी हिन्दी-साहित्य की अमर-कृतियाँ हैं। भिन्न रुचिवाले मनुष्यों में राष्ट्रीय-चेतना को उद्बुद्ध करने में महाकवि के नाटक पूर्ण समर्थ और प्राणवान् हैं। राष्ट्रीय-चेतना का जैसा भव्य रूप प्रसाद के नाटकों में प्रकट हुआ है, वैसा अन्यत्र किसी भी साहित्यकार के नाटक में दृष्टिगत नहीं होता है।

ज्ञान-निकेतन,

आनन्द विहार कालोनी,

गया, (बिहार)





आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च

ॐ डा० एस० एन० पी० सिन्हा

माँ आद्याशक्ति के प्रसिद्ध उपासक भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस का जीवन सब धर्मों का मिलन और समन्वय का क्षेत्र है। उन्होंने 'माँ' की उपासना मातृभाव से (बाल्येन तिष्ठासेत्- सुबालोपनिषद् (१३।१) के इस वाक्य द्वारा मातृभाव की उपासना का उपदेश भक्तिमार्ग है।) की और उस 'पराशक्ति' का साक्षात् दर्शन कर 'या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता' (दुर्गासप्तशती : अ० ५) को सार्थक किं या।

गीता में भगवान् कृष्ण ने भी कहा है— भक्ति के वश में होकर तो प्रभु प्रत्यक्ष

प्रकट होकर भक्त को दर्शन भी देने को बाध्य हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।

(गीता : ११।५४)

अर्थात् हे अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा इस चतुर्भुज रूप में प्रत्यक्ष देखने के लिए, तत्त्व से जानने के लिए तथा प्रवेश करने के लिए अर्थात् एकीभाव से प्राप्त होने के लिए भी शक्य हूँ, 'स्व'- 'पर'-भेद-बुद्धिरूपा माया की परिधि से मुक्त प्राणिमात्र को ईश्वर का दर्शन होता है।

सतत साधना द्वारा उन्होंने यह सिद्ध किया कि भिन्न-भिन्न धार्मिक सिद्धान्तों में वस्तुतः कोई विरोध नहीं है। अपने साधन जीवन में भिन्न-भिन्न काल में अपनी दिव्य-समाधि की अवस्था में भिन्न-भिन्न धर्मों, पन्थों का उन्होंने अनुसरण कर अनुभव

किया कि सभी धर्म एक ही उद्देश्य की ओर ले जाते हैं, वह है— 'ब्रह्मज्ञान'। का यह अद्भुत उपदेश है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।

(गीता : ४।११)

अर्थात् जो कोई मेरी ओर आता है— चाहे किसी प्रकार से हो— मैं उसको प्राप्त होता हूँ। लोग भिन्न-भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अन्त में मेरी

ही ओर

आते हैं।

इसाने

व्यावहारिक

रूप से

रूपान्तर

कर उद्देश्य

की एकता

को सिद्ध

कर दिया। स्पष्ट है कि साक्षात् दर्शन और पराशक्ति प्राप्त करना— दोनों विलक्षण घटना है।

गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है— 'इस लोक में 'क्षर' और 'अक्षर' ये दो पुरुष हैं, सब प्राणिमात्र 'क्षर' हैं और कूटस्थ यह 'अक्षर' कहा जाता है। इन दोनों से भिन्न उत्तम-पुरुष है, जो कि परमात्मा है और स्वयं निर्विकार है ('उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' : गीता : १५।१७)।' भगवान् रामकृष्ण ऐसे ही 'परम आत्मा' हैं।

ईश्वर-दर्शन या आत्मानुभूति धर्म का आधार है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है— "अनुभूति ही धर्म है।" स्वामीजी के गुरु-भ्राता तथा 'श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग' के महान् लेखक स्वामी सारदानन्द जी ने कहा है— "भगवद्-दर्शन पर ही भारतीय धर्म अवलम्बित है।" भारतवर्ष ही क्यों संसार के सभी

देशों के अवतार, मसीहा या महापुरुष, जिन्होंने लोगों को धर्म और आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित किया, ऐसे ही महामानव थे, जिन्होंने ईश्वर का साक्षात् दर्शन किया था। ऐसे ईश्वर-द्रष्टा, आत्मज्ञानी महापुरुषों के द्वारा ही 'धर्म' की स्थापना होती है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।

(गीता : ४।७-८)

भगवान् श्री रामकृष्ण का अवतार भी गीतादर्शन के अनुसार ही हुआ। इन आस्था-पुरुषों का आस्था-दीप जीवन की हर परिस्थिति और काल में जलने अर्थात् प्रकाश देने की क्षमता रखता है (तमसो मा ज्योतिर्गमय)।

सर्वधर्म और सब तीर्थों का समावेश है— इनके व्यक्तित्व में। इनके व्यक्तित्व की विलक्षणता है क्या?

सभी धर्मग्रन्थों का सार तत्व है, सेवा और स्नेह। इन्होंने जगत् को 'शिवबोध से जीवसेवा' का महामन्त्र दिया। सेवा का यह मार्ग ईश्वरोपलब्धि का एक सहज 'राजमार्ग' है। श्रीरामकृष्ण ने कहा था— "मैं उन्हें सभी में और सभी रूपों में देखता हूँ" ...सब कुछ उसी एक तत्व से आया है। ...यदि ईश्वर सर्वभूतों में विद्यमान हैं, तो क्या वे रोगियों-पीड़ितों में, अज्ञानी, अशिक्षितों में और जीवन-पिपासु थके-मादे लोगों में नहीं है क्या? ...समस्त विश्व को विनम्र श्रद्धाभाव से सेवा करो...।"

निष्काम कर्म— 'सर्वभूतहिते रताः' ही 'लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु' का मार्ग प्रशस्त कर 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की ओर प्रवृत्त करता है। जो समस्त प्राणिजगत् के प्रति कल्याण-भाव रखता है, वह ईश्वर को प्राप्त करता है— ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः (गीता)। ऐसा पुरुष स्वयं धर्म को धारण करता रहता है। महाभारत के कर्णपर्व में कहा गया है—

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।

अर्थात्, जिस कार्य से दूसरों का कल्याण होता है, और जिससे किसी को कष्ट न पहुँचता हो, वही धर्म है। इसी सेवा-भाव को ईश्वरीय-मार्ग कहा गया है। मनुष्य में स्थित ईश्वर की सेवा और परोपकार का उपदेश सभी महान् धर्मों के पैगम्बरों ने दिया है।

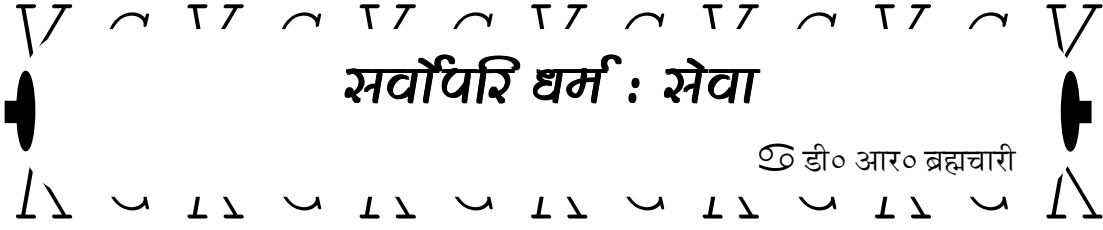
श्रीरामकृष्ण अपने महाप्रस्थान (१६ अगस्त १८८६ ई०) के कुछ पूर्व से ही दक्षिणेश्वर काशीपुर के उद्यान-भवन में स्वामी विवेकानन्द सहित कतिपय निर्मल चरित्र, भक्तिमान्, तेजस्वी युवकों को आदर्श और त्याग-व्रत में दीक्षित कर कई प्रकार से शिक्षा देने लगे और उन्होंने अनुभव किया कि इस भोग-परायण युग में एक ऐसे संन्यासी-संघ की आवश्यकता है जो 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च'— इस महामन्त्र को अपनाकर सम्पूर्ण मानव जाति की सेवा करें। इस तरह इन लोगों को संन्यास-व्रत में दीक्षित कर श्रीरामकृष्ण ने स्वयं ही रामकृष्ण-संघ का सूत्रपात किया था, जिसे स्वामी विवेकानन्द ने अपने असीम धैर्य, उत्साह, विराट् व्यक्तित्व और प्रबल आकर्षणशक्ति द्वारा विश्वव्यापी आन्दोलन का रूप दिया और 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। जिसका उद्देश्य 'सभी धर्मावलम्बियों के बीच एकता और भ्रातृत्व स्थापित करना, आध्यात्मिक और नैतिक चेतना पैदा करना, तथा 'नर-नारायण-बुद्धि' से आतों की सेवा करना आदि था।' यह अबाध गति से लक्ष्य प्राप्ति कर रहा है। 'आत्मा की परम मुक्ति' और 'जगत्-हित' में यह रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन वैदान्तिक दर्शन के आदर्शों को जीवन में कार्यशील बनाने हेतु निरन्तर सक्रिय कार्यरत है। रामकृष्ण-भाव-धारा ही स्वामीजी के शिकागो धर्म-महासभा के अन्तिम उद्घोष— "सहायता, न कि युद्ध; परभावग्रहण, न कि परभाव विनाश; साम्य और शान्ति, न कि मतभेद और कलह" का लक्ष्य प्राप्त करने में सहायक होगा और तभी विश्व-शान्ति के प्रयास सफल होंगे।

जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः।

श्री कृष्णार्पणमस्तु

पूर्व कुलपति, पटना विश्वविद्यालय, पटना,
बी०-६२, लोहियानगर, कंकड़बाग, पटना





सर्वोपरि धर्मः सेवा

डी० आर० ब्रह्मचारी

कहते हैं कि महाभारत संग्राम के दौरान मध्यरात्रि में खोजे जाने पर युधिष्ठिर महाराज अपने युद्ध-शिविर में नहीं पाए गये। फिर क्या था, पाण्डवों के बीच खलबली मच गयी। खुफिया के रूप में द्रौपदी को लगा दिया गया कि देखो तो इस भीषण संकटपूर्ण परिस्थिति में भी सबको छोड़ वह कहाँ अदृश्य हो जाते हैं? चिन्तित द्रौपदी ने सावधानी पूर्वक पड़ताल करनी प्रारम्भ कर दी। वह युधिष्ठिर के पीछे लग पड़ी। वह देखती क्या है

['सर्वभूतहिते रताः' का उपदेश भले निष्काम योग की चरम सीमा हो, किन्तु उसकी पहली सीढ़ी मानव-सेवा है; निष्काम कर्म योग का व्यावहारिक प्रारम्भ है। इस सेवा को सर्वोपरि धर्म मानते हुए प्रस्तुत हैं— डी० आर० ब्रह्मचारी।

कि मार-काट मचाने के बाद थक-हार कर अपने शिविर के सभी योद्धा जब रात्रि में निद्रा-निमग्न हो जाते हैं, तब सनसनाती रात में वेश बदलकर धर्मराज युधिष्ठिर युद्धभूमि की ओर चल पड़ते हैं और वहाँ पहुँच कर क्षत-विक्षत, मरणासन्न, आहत सैनिकों की निष्काम-परिचर्या में दत्तचित्त होकर जुट जाते हैं— किसी के घाव धो रहे होते हैं तो किसी को मरहम-पट्टी कर रहे हैं; किसी को ओषधि-पान, तो किसी को जल पान करा रहे होते हैं; किसी का तलवा सहला रहे होते हैं, तो किसी के सिर पर हाथ फेर रहे होते हैं। उनकी पर्याप्त शुश्रूषा कर चुकने के बाद सन्तोष की साँस लेते हुए बिल्कुल शान्त-भाव से वह अपने शिविर में लौट आते हैं। धर्मराज के क्रिया-कलाप से आश्चर्य से अभिभूत होकर द्रौपदी दंग रह जाती है, फिर व्याकुलता के कारण वह

अपनी जिज्ञासा दबा नहीं पाती और पूछ ही बैठती है— 'धर्मराज! सेवा की बात तो समझ पड़ी, पर वेश बदलने की नाटकीयता का क्या अर्थ?' इसपर समझाते हुए वे कहने लगते हैं— देखो दुपदात्मजे! आहत, क्षत-विक्षत, मरणासन्न, विपन्न की कोई जाति नहीं होती, कोई दल नहीं होता, कोई पक्ष नहीं होता। वे केवल आर्त होते हैं, दुःखी होते हैं, क्षत-

विक्षत-आहत-मरणासन्न होते हैं। यहाँ उनमें कौरव और पाण्डव दल का कोई विभेद नहीं होता। मेरे

वेश नहीं बदलने पर उनको यदि भान हो गया कि यह मेरे पक्ष का नहीं, शत्रु-पक्ष का है तो इस अवस्था में भी वे मेरी सेवा स्वीकार नहीं करेंगे, शंका की दृष्टि से देखेंगे। उनके मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो, निर्विकार होकर वे मेरी सेवा स्वीकार करें, इसलिए मुझे ऐसा करना पड़ता है। शुद्ध सेवा ओछाइयों से ऊपर उठी होती है।

स्पष्ट है कि नियम-निष्ठा, व्रत-उपासना, योग-तप, संन्यास-विन्यास, प्रवृत्ति-निवृत्ति, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, गुह्य-प्रत्यक्ष के फेरे से हटकर जीवन-मूल्य को चरितार्थ करने के मार्ग में सेवा से बढ़कर कुछ नहीं है। सेवा सर्वाधिक सुगम मार्ग है, और उत्तम भी।

महज दो अक्षरों के इस छोटे-से शब्द का अर्थ-गाम्भीर्य अथाह है, अनल्प है, अनन्त है।

उसी में सब कुछ है, उससे परे कुछ भी नहीं। यहाँ अतिव्याप्ति नहीं, एकदम यथार्थ-स्थिति है।

इस कार्य में देह-पीडन की आवश्यकता नहीं होती, वीतरागिता नहीं होती, दमन-वमन की स्थिति नहीं होती, किसी प्रकार की दिखावटी औपचारिकता से भिन्न भक्ति के इस केन्द्रक में सब कुछ सहज है, कहीं से कुछ ओढ़ा नहीं, कृत्रिम नहीं। कृच्छ्र तो एकदम नहीं। यहाँ बिल्कुल 'जँह-जँह डोलौं सो परिकरमा, जो-जो करौं सो पूजा, का हाल है। बस, अ लं हि तत्।'

दश इन्द्रियों के रथ पर आरूढ़ मन जहाँ सर्वथा अशक्य, असहाय होकर इन्द्रियों के सम्मुख पूर्णतः आत्म-समर्पण कर देता है, परिणामतः चतुर इन्द्रियाँ उससे खिलवाड़ शुरू कर देती हैं, फिर तो उसका पतन होना अवश्यम्भावी है। जैसे इन्द्रियाँ ही प्रमुख और मन गौण। शासक का शासित होना और शासित के शासक होने का व्यत्यय प्रारम्भ हो जाता है। आँखें शामक नहीं, उत्तेजक दृश्य देखकर मगन रहना चाहती हैं, कर्णोन्द्रिय सुखद ध्वनि में, चाहे वह अ-सात्त्विक ही क्यों न हो, डूबा रहना चाहता है, त्वचा पपड़ी-फोड़ स्पर्श को आकुल-व्याकुल होने लगती है, इस महोत्सव में जिह्वा ही क्यों चूके भला, वह भी विरल माधुर्य को त्याग चटपटे व्यंजन के लिए प्रतिपल उद्विग्न हो उठती है, प्रतिस्पर्द्धा में नासिका भी पीछे रहनेवाली नहीं, स्वच्छ निर्गन्ध वायु की जगह उन्मादक गन्ध के लिये लालायित दिखती है। तब उस बेचारे मन की दशा देखने लायक हो जाती है—

काम क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।

महामोह के नूपुर बाजत निन्दा सबद रसाल।।

भ्रम भर्यो मन भयो पखावज चलत असंगत चाल।

दृष्णा नाद करत घर भीतर नाना विद्य दै ताल।।

और यावज्जीवन मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, निन्दा, भ्रम, तृष्णा की विषयासक्ति के वृत्त

में आँखों पर पट्टी लगे कोल्हू के बैल की तरह घूमता-घूमता अन्त में टें बोल देता है। कोई उपाय नहीं बच जाता है उसके पास। तृष्णा से तृष्णा शान्त नहीं होती। मरुभूमि का मृग बना मन हाँफता रहता है, हाँफता रहता है!

असत्य में सत्य का भ्रम पाले मन दिक्काल विवेक-शून्य हो उठता है। परिणाम-स्वरूप यथार्थ अयथार्थ की पहचान का नष्ट होना स्वाभाविक है। संसार की सारी अशान्ति के लिए एकमात्र उत्तरदायी भ्रम-ज्ञान ही है। फिरौती, अपहरण, बलात्कार, हत्या शोषण, आतंक, उपद्रव सबकी जड़ यही है।

ऐसी बात नहीं कि इस भ्रम की प्रतीति अथवा उसका आभास उसे नहीं होता; या दिग्भ्रम की सूचना उसे नहीं मिलती हो। निश्चित रूप से संकेत उसे मिलते रहते हैं, समय-समय पर प्रकृति के नियमानुसार। यह तो मन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। अपने दमघोंटू वातावरण में वह छटपटाता रहता है अवश्य, नहीं तो अपनी इस पीड़ा को, इस अतृप्ति को वह इस प्रकार व्यक्त ही क्यों करता? 'नाथ न कबहुँ नींद भर सोबहुँ' अथवा 'जल बिच धोबिया मरत पियासा' अथवा 'अब मौँ नाच्यो बहुत गुपाल।' उसकी वही पीड़ा तो झाँकती है, वही अकुलाहट तो व्यंजित होती है।

'गोपाल' शब्द यहाँ ध्यान देने योग्य है। 'गो' अर्थात् इन्द्रिय, 'पाल' अथात् पालनेवाला, पालनकर्ता। ध्यान देने योग्य है, यहाँ 'गोपाल' शब्द का साभिप्राय प्रयोजन। वैसे तो 'गोस्वामी' शब्द भी है— गो का स्वामी, किन्तु 'गोस्वामी' और 'गोपाल' में अवान्तर भेद है। सूर के पद में 'गोपाल' विशिष्ट अर्थ का द्योतन कर रहा है, जहाँ सहचरता का, निकटता का, ध्वनन हो रहा है। 'स्वामी' में 'स्वामित्व' झलकता है, 'प्रभुत्व'। वह तो और भी साधना की अपेक्षा रखता है। स्वामी के साथ रहने पर अनुशासन पर बड़ा ध्यान रखना होता है।

इसलिए वह ऊपर की कोटि का है। 'पालन' में पोषण का भाव है— 'जिमि बालक रखड़ महतारी।' यहाँ 'पश्यापश्य' का ख्याल होता है। 'पोषण' में पुष्टि भाव है और पुष्टि भगवदनुग्रहः है। पोषण पालक या पालनकर्ता से सम्भव है, 'स्वामी' या मालिक से नहीं। स्वामी अथवा मालिक के आगे तो फूँक-फूँककर चलना पड़ता है, हमेशा सावधान रहना पड़ता है, हमेशा मालिक की इच्छा-अनिच्छा का ध्यान रखना होता है, ऐसा न करने पर तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो सेवा-भाव के एकदम प्रतिकूल है।

सेवा-भाव का बीज सबों में जन्मजात रूप से विद्यमान होता है। माँ को बच्चा पालने का प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है। यह क्षमता निसर्ग द्वारा प्रदत्त है, मानव मानवेतर सबों में। माँ अपना सर्वस्व उलीच कर अपनी सन्तति में डाल देना चाहती है, अहैतुक, निराकांक्ष, अनासक्त होकर प्राकृतिक रूप से। इस कर्म में भक्ति, योग, ज्ञान जो भी कह लीजिए, सभी स्वयमेव अनायास आ पड़ते हैं— एकहि साधे सब सधे। वहाँ अभिधान की अपेक्षा नहीं होती। यह ऐसी सेवा है, जिस पर कहीं भी 'सेवा' की मुहर अथवा साइन-बोर्ड नहीं दिखता। जिस पर कोई मूल्य भी लिखा नहीं होता। आज तक कोई मूल्य चुका सका है इसका? अमूल्य है यह, बिल्कुल अनमोल।

बाढ़, भूकम्प, महामारी, अकाल अथवा बस-रेल दुर्घटना से आहत-प्राणियों की बात तो छोड़िए, एक प्यासे को पानी पिलाकर अथवा एक भूखे को रोटी खिलाकर हम क्षुद्र से महानता का अथवा खण्ड से अखण्डता का अनुभव नहीं करते हैं? एक विरल आनन्द की प्रतीति हमें नहीं होती है?

विश्वासघातियों अथवा छलछन्दियों द्वारा इसके बहाने यद्यपि पैशाचिक लीला का नग्न प्रदर्शन किया जाता है, तथापि भूखे को अन्न, प्यासे को

पानी के पवित्र भाव का अवमूल्यन आज तक कहीं हो सका है?

छांदोग्य उपनिषद् में एक प्रसंग आया है— 'हंस आपस में बातें करते हैं कथं स युग्वा रैक्व इति (४।१।१३)। अर्थात् यह गाड़ीवाला रैक्व कैसा है? उत्तर होता है— प्रजा जो कुछ सत्कर्म करती है, उसका फल रैक्व को प्राप्त हो जाता है। स्पष्ट है सारे कार्यों का फल स्वतः उस अंश के माध्यम से अंशी को जाता है, जहाँ किसी प्रकार से 'अहं' फटकता ही नहीं है, 'इदम्' ही 'इदम्' लक्षित होता है।

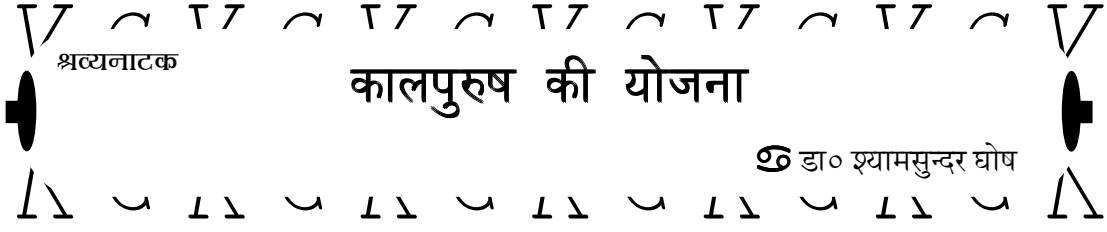
ध्यातव्य है, यह शृंखला अव्याहत है, अटूट है— 'धोए मिट्टे न मरड़ भीति दुख पाइय यह तनु हेरे।' यह पीड़ा यद्यपि नश्वर है, तथापि सकारात्मक है, अनुग्राह्य है। रूढ़ अर्थ में कैवल्य अथवा मोक्ष के लिए यहाँ कोई अवकाश नहीं, पर इससे बड़ा दूसरा मोक्ष और क्या हो सकता है? 'चाह गयी चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह।' फिर भी मन है कि पुनः इसमें ही रमा रहना चाहता है—

राम! तुम्हारे इसी धाम में नाम-रूप-गुण लीला लाभ
इसी देश में हमें जन्म दो, लो प्रणाम हे नीरज नाभ।
धन्य हमारा भूमि भार भी जिससे तुम अवतार धरो
मुक्ति-मुक्ति माँग क्या तुमसे हमें भक्ति दो ओ अमिताभ!

अद्भुत स्वाद है यह!

यही भुक्ति की मुक्ति और मुक्ति की भुक्ति है। वृक्ष के पत्ते को तोड़ते अथवा काटते जाइए, वे उगते जायेंगे।

सेवा-सुख का स्वाद एतद्विषयक सभी स्थानों में स्थित है। सम्पूर्ण जीवन इसका क्षेत्र है। कृषक हो, पशुपालक हो, चित्रकार-मूर्तिकार-गायक-अभिनेता हो, राष्ट्र-सेवा अथवा दुखियों-आर्तियों के माध्यम मानव-सेवा करनेवाला ही क्यों न हो, महादेवी हो अथवा मदर टेरेसा। सेवा के उत्तुंग शिखर पर जाकर सेवक-सेवा-सेव्य के भेद का बिल्कुल विलयन हो जाता है। बच जाती है केवल सेवा— सेवा मेवा केवलौ। सारा जगत् सेवा का ही खेल परिलक्षित



(विकट उत्कट धनियों) लगता है, पहाड़ टूट-टूटकर गिर रहे हैं, समुद्र की लहरें पछाड़ खा रही हैं, आँधी-अन्धड़ का भयंकर प्रकोप है। दिशाएँ काँप रही हैं। दिक्काल चकित-चिन्तित है। आवाज कभी तेज, कभी मद्धिम कभी क्षीण। यह क्रम कई बार, उलट-पुलटकर सृष्टि को अस्त-व्यस्त कर रही है।)

विश्वामित्र : ऐ, ये कैसी आवाजें सुन रहा हूँ मैं? अरे हाँ! कुछ-कुछ याद आ रही है। पहले भी मैंने ये आवाजें सुनी हैं। पर ये... ये आवाजें तो मेरे ही भीतर से प्रकट हुई थीं। मुझे इन्होंने ही जैसे झकझोरा और सचेत किया था। तो क्या यह उसी कालपुरुष की आवाज है, जिसने मुझे एक नयी भूमिका में अवतरित कराया था। मुझसे बड़ा अनूठा काम लिया था, कहिए कि कराया था। लेकिन आज तो यह आवाज बाहर गूँज रही है; गरज रही है। क्या मतलब समझूँ मैं इसका?

रामकथा में श्रीराम के वनगमन-प्रसंग में महाराज दशरथ, महारानी कैकेयी और कुबड़ी मन्थरा की भूमिका अनेक कवियों की कल्पना की पृष्ठभूमि रही है। संस्कृत के महान् नाटककार भास ने भी अपनी अनूठी कल्पना से कैकेयी को मर्यादित और महिमामण्डित करने का प्रयास किया है। उनकी अपनी कल्पना है कि श्रवणकुमार के अन्धक पिता द्वारा दिये गये शाप के कारण पुत्र-वियोग की परिस्थिति उत्पन्न करने के लिए कैकेयी ने यह योजना बनायी थी। इसमें कैकेयी की यह भी मंशा थी कि ऐसी स्थिति में ऋषि-शाप की अवश्यम्भाविता के कारण महाराज दशरथ को पुत्र-वियोग में अपने प्राण नहीं त्यागने पड़ेंगे।

प्रस्तुत श्रव्य नाटक भी इसी पृष्ठभूमि पर आधृत है। नाटककार कालपुरुष की अवतारणा कर उसकी प्रेरणा से वनगमन की भूमिका बाँधने में सफल हैं, जिसमें श्रीराम के अवतार को सार्थक दिशा देनेवाली माता कैकेयी का दिव्य-चरित्र सामने उभर कर आता है। नाटककार का दृष्टिकोण है कि श्रीराम वनवासियों, ऋषियों और दलितों के कल्याण के लिए अवतरित हुए थे। उन्हें अयोध्या के राज-सिंहासन पर बैठाकर 'कुण्ठित' करना उनके साथ अन्याय करना ही था।

—सं०

कालपुरुष : विश्वामित्र, ठीक ही समझा है तुमने। यह कालपुरुष की ही आवाज है। मैं आज तेरे अन्दर से नहीं, बाहर से बोल रहा हूँ। कहे कि मुझे बोलना पड़ रहा है। समय कितना बदल गया है! व्यक्ति तो उससे भी अधिक बदल गया है! कभी जो आवाजें, तुम्हारे अन्दर से आती थीं, आज नहीं उठ रही हैं। क्या मतलब है इसका? कुछ समझ रहे हो विश्वामित्र! (विराम) : (तेज स्वर में) : कुछ समझ रहे हो विश्वामित्र? क्यों हो रहा है ऐसा? मैं आज तुम्हें पुकारने को विवश हूँ। तुम्हारी कुटी के द्वार पर मुझे उपस्थित होना पड़ा है, तुम्हें झकझोर रहा हूँ।

विश्वामित्र : मैं कुछ-कुछ याद कर रहा हूँ। वर्षों पहले आप मेरे ही अन्दर से प्रकट हुए थे। कहिए कि आपने मेरी आत्मा को जगाया, झकझोरा था। मैं नहीं भूला हूँ कुछ भी! आज भी मुझे सब कुछ याद है।

(विराम-सूचक संगीत)

विश्वामित्र की अन्तरात्मा : क्यों विश्वामित्र! कितनी निश्चिन्तता से सोये पड़े हो। तुम्हें दीन-दुनिया की कुछ खबर भी है, या अपने कौपीन-कमण्डल लेकर ही पड़े हो?

विश्वामित्र : मेरी आत्मा! ऐसा क्यों कहती हो? तुम मेरा ही अंश होकर मेरा ऐसा अवमूल्यन कर रही हो? कोई दूसरा कहता, तो बात भी थी।

अन्तरात्मा : तो बताओ, कहाँ क्या हो रहा है? आर्यभूमि का क्या हाल-चाल है? दक्षिणापथ सुरक्षित है या नहीं? क्या ऋषि-मुनि यज्ञ-जप-तपस्या ठीक-ठाक कर रहे हैं? या उनके दैनन्दिन कार्यों में बाधाएँ आ रही हैं?

विश्वामित्र : बहुत बाधाएँ हैं। देश का दक्षिणी क्षेत्र बहुत अशान्त है। आसुरी शक्तियों का तेजी से विकास हो रहा है। बहुत उद्धत और उद्वण्ड हैं वे...

अन्तरात्मा : तो क्या कुछ कर भी रहे हो तुम इसके लिए? राजा तो केवल अपना राज्य देखता है। बड़े प्रतापी सम्राट् हैं न महाराज दशरथ। पर वे केवल अवध को देखते हैं। उन्हें और कुछ देखने की जरूरत पड़ती है, तो वे देवताओं की ओर देखते हैं, देवासुर-संग्राम में भाग लेते हैं। देवताओं से अपनी मित्रता बढ़ाते हैं, अपने प्रताप को दिग्दिगन्त तक व्यापक बनाना चाहते हैं। राजा को अपने ही सुदूर क्षेत्रों, उससे सटे-लगे भू-भागों की, वहाँ के वनवासियों, जन-जातियों की चिन्ता कतई नहीं रहती। राजवैभव और राजनीति उनकी दृष्टि को, उनके सरोकारों को, सीमित कर देती है।

विश्वामित्र : महाराज दशरथ पर इस तरह का अनुचित आरोप लगाना ठीक नहीं। मैं उन्हें जानता हूँ; अच्छी तरह से जानता हूँ। वे रघुकुल-भूषण हैं। देश की सीमाओं के आस-पास क्या हो रहा है, आर-पार क्या गतिविधियाँ चल रही हैं, इसके बारे में उन्हें जरूर कुछ न कुछ जानकारी होगी ...।

अन्तरात्मा : तो वे क्या कर रहे हैं? ऋषि-मुनि सताये जा रहे हैं, आश्रम नष्ट-भ्रष्ट किये जा रहे हैं। जब चिद्धत्-समाज की, चिन्तक-वर्ग की यह दशा है, तब साधारण लोगों के कठिन जीवन की क्या कल्पना की जा सकती है? ...

विश्वामित्र : इसीलिए तो ...इसीलिए तो...।

अन्तरात्मा : इसीलिए तो क्या। क्या कहना चाहते हो तुम? क्या करना चाहते हो? क्या कार्य-योजना है तुम्हारे पास?

- विश्वामित्र :** मैं महाराज दशरथ से उनके दो तेजस्वी और प्रतापी पुत्रों को माँगने जा रहा हूँ, उनसे कहने जा रहा हूँ – महाराज, ये राम-लक्ष्मण आपके लिए नहीं है, ये राजभवन की शोभा बनने के लिए नहीं है। इन्हें अवध तक मत सीमित रखिए। इन्हें मुझे सौंप दीजिए। मैं इन्हें अपने आश्रम में रखकर वेद-वेदांग और धनुर्विद्या में प्रवीण-पारंगत करना चाहता हूँ, ताकि ये राक्षसों के अबाध प्रसार को रोक सकें, उन्हें दण्ड दे सकें ... (विराम-सूचक संगीत)।
- कालपुरुष :** और विश्वामित्र, तुमने ऐसा ही किया। राजा दशरथ ने बहुत ना-तुकर किया, राजकुमारों के किशोर वय का हवाला दिया, आश्रम में ये कैसे रहेंगे, इनके भोजन-पान, रहन-सहन की क्या व्यवस्थाएँ होंगी, ऐसी पचासों चिन्ताएँ थीं महाराज दशरथ की। क्यों ठीक कह रहा हूँ न विश्वामित्र?
- विश्वामित्र :** बिल्कुल ठीक कह रहे हैं आप। कालदेवता हैं आप! त्रिकालज्ञ हैं आप! सब कुछ देखते-सुनते-जानते हैं आप। तब आप ही तो थे मेरे अन्दर और मुझसे ये सब कार्य करा रहे थे। मैं क्या था? कुछ भी तो नहीं। अधिक से अधिक एक निमित्त...।
- कालपुरुष :** और आज फिर तुम्हें निमित्त होना है। तुम्हें एक बार फिर राम लक्ष्मण को वन भेजना है।
- विश्वामित्र :** यह क्या कर रहे हैं आप कालदेवता? युवराज राम तो अयोध्या के सम्राट् होनेवाले हैं? अभिषेक की तिथि तक निश्चित हो गयी है। सारी तैयारियाँ चल रही हैं। और ऐसे में...
- कालपुरुष :** हाँ, ऐसे में ही तुम्हें महाराज दशरथ को सुझाना और बताना है कि राम अयोध्या की राजगद्दी के लिए नहीं बने हैं, तुमने उन्हें जो शिक्षा दी है, जो युद्धकौशल सिखाये हैं, अयोध्या की प्रजा को उसकी जरूरत नहीं। अयोध्या वैसे भी सुरक्षित है। उसका नाम 'अयोध्या' यँ ही नहीं रखा गया है। राम की जरूरत तो आज वहाँ वनवासियों, जनजातियों को है, जहाँ तक राजसत्ता नहीं जाती, जा भी नहीं सकती। राम को वहाँ जाना होगा तापस वेष में। उन्हीं के अनुरूप उनको अपना रहन-सहन बनाना होगा। राम में यह स्थिति-स्थापकता भी तो सुलभ है।
- विश्वामित्र :** तो आप यह सब महाराज दशरथ से क्यों नहीं कहते? मैं तो एक बार अपनी ऐतिहासिक भूमिका निबाह चुका हूँ। किसी एक ही व्यक्ति को बार-बार अपनी कसौटी पर कसना क्या उचित है? कितने लोग तो हैं आपके काल-साम्राज्य में। उनमें से किसी और को क्यों नहीं चुनते? बार-बार मेरे ही पास क्यों चले आते हैं? किसी एक को इतना महत्त्व देना ठीक नहीं।
- कालपुरुष :** तुम परखे हुए पात्र हो विश्वामित्र! मैंने तुम्हें एक बार जाँच कर देख लिया है। तुम मेरी कसौटी पर बिल्कुल खरे उतरे हो। क्या कोई तुमसे दूसरा महाराज दशरथ से राम-लक्ष्मण को माँग कर ले जा सकता था? नहीं, विश्वामित्र, नहीं। यह काम तुम्हीं कर सकते थे।

तुमने किया। कितनी लगन और निष्ठा से राम-लक्ष्मण को शिक्षा दी; राक्षसों का उत्पात खत्म कराया। यह काम तुम्हीं कर सकते थे, केवल तुम्हीं...

विश्वामित्र : इसलिए आप फिर मेरे पास चले आये। बिना यह सोचे कि वह परिस्थिति बदल गयी है। माना कि महाराज दशरथ दानी हैं। एक बार मैंने कैसे उनसे उनके पुत्र माँगे, उन्होंने दे दिये। अब आप खुद सोचिए कि यदि किसी याचक को बार-बार याचना करनी पड़े तो उसकी क्या स्थिति होगी? उसके मनोविज्ञान का कुछ तो ख्याल कीजिए। (कुछ देर चुप)...

कालपुरुष : कहो, विश्वामित्र कहो, निःसंकोच कहो।

विश्वामित्र : और फिर आज के अवसर पर भी ध्यान दीजिए। राम सिंहासनारूढ़ होनेवाले हैं, सारी तैयारियाँ पूरी कर ली गयी हैं। अयोध्या के राजभवन की शोभा और उत्सुकता तो देखिए। आज जबकि पूरी अयोध्या, पूरा अवध, उल्लास में मग्न है, ऐसे में आप कहते हैं कि मैं फिर महाराज दशरथ से उनके पुत्र माँगू? ऐसा रसभंग तो कोई क्रूर ही कर सकता है। मैं इतना निष्ठुर नहीं हूँ कालदेवता। इतना निष्ठुर नहीं हो सकता। आप मुझे क्षमा करें। मैं आपका आदेशपाल हूँ सही, पर आप पात्र और परिस्थिति का ख्याल कर कुछ और सोचें...।

कालपुरुष : तो तुम इनकार करते हो विश्वामित्र? अपने सामने आये दूसरे ऐतिहासिक अवसर को गँवाना चाहते हो? ऐसे अवसर किसी के जीवन में एक बार भी नहीं आते, बार-बार आने का तो सवाल ही नहीं उठता। तुम भाग्यवान् हो कि मैं तुम्हें दूसरी बार यह ऐतिहासिक अवसर देना चाहता हूँ, इसमें अवतीर्ण कर तुम्हारी ऐतिहासिक भूमिका की पुनःपरीक्षा चाहता हूँ। सोच लो, विश्वामित्र, सोच लो। पृथ्वी विपुला है, यहाँ लोगों की कमी नहीं है। मुझे कोई-न-कोई तो इस भूमिका के लायक मिल ही जायेगा, पर तुम यह न कर सके तो मुझे यह ख्याल बराबर सालता रहेगा...।

विश्वामित्र : बहुत कृतज्ञ हूँ मैं आपका। आपने मुझपर जो भरोसा किया है, उसके लिए बहुत कृतज्ञ हूँ। आपने मुझे एक अवसर दिया, यही कम नहीं है। आप ऐसे अवसर बार-बार मुझे ही क्यों दें, यह प्रश्न मुझे कुण्ठित करता है। कितने लोग तो हैं आपके साम्राज्य में – आपका उद्देश्य समझनेवाले, उसपर अमल करनेवाले। एक से एक कर्मठ, तेजस्वी, तपोव्रती। उनकी उपेक्षा क्यों? उनपर भरोसा क्यों नहीं? एक विश्वामित्र पर ही ऐसी कृपा क्यों? क्या यह मेरे प्रति आपका, अतिरिक्त पक्षपात नहीं? कालदेवता? आप खुद सोचें, विचारे...।

कालपुरुष : तुमने मुझे निरुत्तर कर दिया विश्वामित्र। मैं तुम्हारे औदार्य की प्रशंसा करता हूँ। अब मुझे कोई दूसरा द्वार खटखटाना ही होगा। जैसी प्रभु इच्छा...

कालपुरुष की

आत्मा : सोचो, कालपुरुष, सोचो। विश्वामित्र ने तो आसानी से पल्ला झाड़ लिया। अब क्या करोगे? बड़ी विकट परिस्थिति है तुम्हारे सामने। राम को अयोध्यानरेश बनाने की

तैयारियों जोरों पर हैं। एक ओर है पूरी अयोध्या, पूरा अवध, महाराज दशरथ, उनके मन्त्री और सभासद, कुल-गुरु, कुल-पुरोहित महर्षि वसिष्ठ और अन्य विशिष्ट प्रतापी जन और दूसरी ओर हो तुम, अकेले, निपट अकेले? उनका उद्देश्य राम को सिंहासनारूढ़ करना है और तुम्हारा उद्देश्य उसे रोकना है। केवल रोकना ही नहीं है, अवध और अयोध्या से विलग कर वन राम को भेजना है। कठिन काम है यह! तुम्हारी अग्निपरीक्षा है!

कालपुरुष : तुम मेरी अन्तरात्मा होकर मुझे कमजोर करना चाहती हो? क्या यही है तुम्हारा कर्तव्य?

आत्मा : मैं तुम्हें कमजोर नहीं कर रही। विकट चुनौती से आगाह करा रही हूँ कि अब तुम क्या करोगे? क्या स्वयं महाराज दशरथ के पास जाओगे? उनसे राम-लक्ष्मण को माँगोगे? क्या कारण बताओगे? क्या तर्क दोगे इस बार?

कालपुरुष : यह तुमने कैसे सोच लिया कि महाराज से राम-लक्ष्मण की याचना करूँगा? यह मैं कर ही नहीं सकता।

आत्मा : क्यों नहीं कर सकते? क्या कठिनाई है? जो काम तुम दूसरों से करा सकते हो, कराना चाहते हो, उसे खुद क्यों नहीं कर सकते?

कालपुरुष : मेरी योजना सुनकर महाराज दशरथ कहेंगे कि तुम मुझे मृत्यु-मुख में धकेलना चाहते हो?

आत्मा : ऐसा क्यों कहेंगे भला वे? तुम उनसे राम-लक्ष्मण ही तो माँगोगे! उनके प्राण तो नहीं?

कालपुरुष : राम-लक्ष्मण महाराज दशरथ के प्राण ही तो हैं। पर वे इस कारण मुझसे ऐसा नहीं कहेंगे...

आत्मा : तो किस कारण से कहेंगे?

कालपुरुष : तो लो, सुनो...।

(दशरथ की काल्पनिक आवाज)

दशरथ : कालदेवता, कैसी माँग रख रहे हैं आप मेरे सामने? अभी ही मुझे मृत्यु-मुख में धकेल देना चाहते हैं? पुत्र वियोग में मेरा प्राणान्त होगा, अन्धक ऋषि के इस शाप से तो आप जरूर परिचित हैं। आप काल-देवता हैं, सर्वत्र विराजमान रहते हैं। जिस समय श्रवणकुमार को मेरा बाण लगा और वह माता-पिता को निःस्सहाय छोड़कर चल बसा, उस समय अन्धक ऋषि ने मुझे यही तो शाप दिया था कि जैसे पुत्र-वियोग में उन्हें प्राण-त्यागने पड़ रहे हैं, वैसे ही मुझे भी अपने पुत्रों से विलग होकर दिवंगत होना पड़ेगा, (अल्प विराम) इस शाप के समय वहाँ कोई और नहीं, आप तो थे। इस शाप के बारे में या तो केवल मैं जानता हूँ, या आप। ऐसे में राम-लक्ष्मण को वन भेजना मुझे मृत्यु के मुख में धकेलना ही तो है। यह एक प्रकार से वध है, कालदेवता!... वध, निर्मम, निष्ठुर असामयिक वध, जान-बूझकर किया गया वध। ऐसा कैसे आप कर सकते हैं?

(विराम-बोधक संगीत)

- आत्मा :** सचमुच आप ऐसा नहीं कर सकते। यह महाराज दशरथ के प्रति भारी अन्याय होगा। तो फिर क्या करेंगे आप? सोचिए, सोचिए। कुछ तो करना ही होगा आपको। आप इस उत्तरदायित्व से बच नहीं सकते।
- कालपुरुष :** करना ही होगा। कर्तव्य करना ही पड़ता है। सबको करना पड़ता है। फिर मैं तो काल हूँ। कुछ मुझे महाकाल कहते हैं। क्यों ऐसा कहते हैं? यह कहने-मानने का भी तात्पर्य है, गहरा, गूढ़ तात्पर्य। जो कोई नहीं कर सकता, उसे मुझे करना पड़ता है। तभी 'समय होत बलवान' कहा जाता है। समय तो मेरा एक मामूली हिस्सा है। काल और महाकाल के रूप में मैं त्रिकाल-व्यापी और दिगन्त-व्यापी हूँ। मुझे कुछ सोचना पड़ेगा, कुछ अप्रिय निर्णय करना होगा।

(विराम-बोधक संगीत... अन्तराल)

(नाटक के प्रारम्भ में संकेतित ध्वनि प्रभावां विकट-उत्कट ध्वनियाँ। लगता है पहाड़ टूट-टूटकर गिर रहे हैं, समुद्र की लहरें पछाड़ खा रही हैं। आँधी-अन्धड़ का भयंकर प्रकोप है। दिशाएँ काँप रही हैं। दिक्काल चकित चिन्तित हैं। आवाज कभी तेज, कभी मद्धिम तो कभी क्षीण। यह क्रम कई बार, उलट-पुलटकर सृष्टि को अस्त-व्यस्त कर रही है।)

- महारानी कौशल्या :** कैसी विकट-उत्कट ध्वनियाँ हैं! कहाँ से किस गुफा-गर्त से, आ रही हैं? पूरा राजभवन झकझोर रही हैं। कभी तो नहीं सुनी गई, ऐसी निष्ठुर आवाज! मानो पहाड़ टूट-टूट कर गिर रहे हों! नदियाँ उछल-उछल कर गरज रही हों। अयोध्या के राजपरिसर में, उसके परकोटे को लौंघ कर, यह गर्जन कौन कर रहा है? सामने क्यों नहीं आता? प्रच्छन्न में रहकर कोहराम मचाये हुए है! जो भी हो, प्रकट क्यों नहीं होता?
- कालपुरुष :** मैं कालपुरुष हूँ महारानी कौशल्या! क्षमा चाहता हूँ। इस अनर्थ के लिए विवश हूँ। यह अनर्थ तो उस अनर्थ की तुलना में कुछ भी नहीं है, जो जल्द ही घटित होनेवाला है। महारानी मुझे उसे रोकना है, हर हालत में रोकना है, आपके सहयोग से रोकना है...।
- रानी कौशल्या :** कैसी बहकी-बहकी बातें कर रहे आप कालदेव! मुझे तो कुछ समझ में नहीं आ रहा है! किस अनर्थ की बात कर रहे हैं आप? कौन-सा अनर्थ घटनेवाला है महाराज दशरथ की अयोध्या में उनके रहते? राम और लक्ष्मण जैसे अद्वितीय धनुर्धारी राजकुमारों के रहते! किसका यह साहस है? साफ-साफ कहिए। क्या मन्तव्य है आपका?
- कालपुरुष :** कल का समारोह महारानी, कल का समारोह।
- कौशल्या :** क्या आप पागलों जैसी बातें कर रहे हैं कालदेव! कल तो युवराज राम सिंहासनारूढ़ होनेवाले हैं; अवध के सम्राट् होनेवाले हैं। शुभ मुहूर्त है कल। कुलगुरु महर्षि वसिष्ठ ने बहुत गणना कर यह तय किया है और आप कहते हैं, अनर्थ घटित होनेवाला है? मैं कुछ समझी नहीं आपकी बात...।

- कालपुरुष :** राम का सिंहासनारूढ़ होना ही सारे अन्तर्धों की जड़ है। सच कहता हूँ महारानी, सच, बिल्कुल सच! मैं कालपुरुष हूँ। मेरे कन्धों पर ही यह भार रहता है कि मैं लक्षित में निहित अलक्षित को चिह्नित करूँ, पहचानूँ। बड़ा कठिन कर्तव्य है मेरा। समझिए मैं शाश्वत रस-रंग-भञ्जक हूँ। मुझे कल का समारोह रोकना है, राम को राजगद्दी पर बैठने से रोकना है। उन्हें वन भेजना है...
- कौशल्या :** आपका यह साहस? कैसे दुर्विनीत हैं आप! महारानी कौशल्या के सामने उसके आयोजन को भंग करने की घोषणा! कुछ समझ रहे हैं आप कि क्या कह रहे हैं? महाराज सुनेंगे तो क्या परिणाम होगा इसका? क्या कुछ अनुमान है आपको?
- कालपुरुष :** विवश हूँ महारानी, मैं विवश हूँ। राम अयोध्या के लिए नहीं बने हैं। अवध और अयोध्या तो पूरी तरह से सम्पन्न और सुरक्षित है। कोई इसका बाल भी बाँका नहीं कर सकता। पर देश के सुदूर प्रान्त, सीमान्त, अंचल कितने अशान्त और असुरक्षित हैं? वहाँ कितनी घुसपैठ, भीषण मारकाट, सीमोल्लंघन, मानवाधिकार-हनन और तरमेध का अन्वर्त चक्र चल रहा है, क्या आप यह नहीं जानतीं? युवराज राम राज्य करने के लिए नहीं, गिरिवासियों, वनवासियों, दलितों, पिछड़ों, असहायों की रक्षा के लिए अवतरित हुए हैं। उन्हें अयोध्या तक सीमित करना उन्हें उनके ऐतिहासिक दायित्वों और अवसरों से वंचित करना है। आप केवल माता ही नहीं, राजमाता भी हैं, नगर से दूर वन-प्रान्तों में रहनेवाली प्रजा भी आपकी ही तो है...।
- कौशल्या :** रुकिए, कालपुरुष, रुकिए। पहले आप यह बताइए कि यह सब मुझे ही क्यों बता रहे हैं, बताने के लिए और कितने ही लोग हैं – महाराज हैं, युवराज राम हैं, गुरु वसिष्ठ हैं और भी दूसरे लोग हैं। एक मुझसे ही यह अपेक्षा क्यों? क्या नारियों से ऐसी अपेक्षा अस्वाभाविक नहीं? आपकी बातों से एक दूसरा पहलू उभर कर सामने आता है जरूर, पर राज्यारोहण की बात इतनी आगे बढ़ चुकी है कि अब कुछ करना कठिन लगता है। बहुत विलम्ब हो चुका है कालदेव! कृपया क्षमा करें।
- कालपुरुष :** कुछ विलम्ब नहीं हुआ है महादेवी! अभी रात भर का समय है। रात में ही तो हम निश्चिन्त होकर कुछ विचार कर सकते हैं, कुछ निर्णय कर सकते हैं। दिन तो कर्म करने के लिए होते हैं। विचार-विमर्श, तर्क-वितर्क, निर्णय आदि तो प्रायः रात्रि के शान्त और स्थिर वातावरण में ही लिये किये जाते हैं। और बात रही ऐसे मामलों में नारियों की भागीदारी की, तो अब इस दिशा में नारियों को भी प्रयास और पहल करना है। हमें नारी-समुदाय से बहुत आशा है, अपेक्षा है। मैं बहुत सोच-समझकर ही आपके पास आया हूँ। आप महाराज को मन्त्रणा देने की सर्वथा योग्य अधिकारिणी हैं। आपकी कही हुई बातों में राष्ट्रचिन्ता का भाव देखकर महाराज भी बहुत प्रसन्न होंगे महारानी! आप मुझे निराश न कीजिए। यह आयोजन रोकिए, रोकिए क्या, स्थगित कीजिए। राम सब दिन तो वन में रहेंगे नहीं। वे अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर लौटेंगे भी। तब दूने उत्साह और उल्लास से यह समारोह सम्पन्न होगा।

कौशल्या : नहीं, कालदेव, नहीं। मुझे मत भरमाइए। मैं बहुत कमजोर नारी हूँ। मैं महारानी बनी रहना नहीं चाहती, नहीं चाहती हूँ मैं राजमाता का पद। यह सब बोझ है मेरे लिए। महाराज भी अब इस सबसे ऊब गये हैं। अब हमारा वानप्रस्थ का समय है। राज्यारोहण-समारोह शुभ-शुभ शीघ्र सम्पन्न हो जाय, तो मैं और महाराज दोनों ही अपने को मुक्त अनुभव करेंगे। आप अन्यत्र यत्न करे आर्य!

कालपुरुष : अन्यत्र? कहाँ? किसके पास? आप ही कुछ संकेत...।

कौशल्या : क्यों, आपके सामने रानी सुमित्रा का नाम क्यों नहीं आता? मुझे बड़ा आश्चर्य होता है यह देख कर कि जब भी कोई कठिन समस्या आती है, तब लोग मेरे पास चले आते हैं, या बहन कैकेयी के पास जाकर गुहार लगाते हैं। देवी सुमित्रा को तो कोई पूछता ही नहीं। कालदेव! क्या आप भी यही नहीं कर रहे हैं?

कालपुरुष : देवी सुमित्रा? रानी सुमित्रा?...

कौशल्या : महारानी सुमित्रा कहिए। वह किसी भी अर्थ में हम तीनों में कम नहीं है। वह केवल नाम से ही सुमित्रा नहीं है, स्वभाव और व्यवहार से भी सुमित्रा है – सबसे मैत्री रखनेवाली। वह अधिक बोलती नहीं, दिखावा नहीं करती, दावा नहीं करती, पर वह हम तीनों में से कम विशिष्ट नहीं। और, उसके त्याग की तो कोई सीमा ही नहीं है, उसके सन्तोष को तो कोई थाह ही नहीं सकता। उसने अपने दोनों पुत्र हम दोनों के पुत्रों को दे दिये हैं? क्या है उसका? कुछ भी तो नहीं! आप उसी के पास जाइए। हो सकता है वही कुछ कर सके। उसकी बात कोई नहीं टाल सकता – न महाराज, न मैं, न मेरा बेटा राम। जाइए, कालदेव! आप उसी के पास जाइए।

(विराम-बोधक संगीत)

कालपुरुष : जाना ही होगा, मुझे महारानी सुमित्रा के पास जाना ही होगा। देवी सुमित्रा को जिस प्रकार महारानी कौशल्या ने निरूपित किया है, वह तो अद्भुत है। कितना स्नेह है इन सहपत्नियों में। यह केवल महाराज दशरथ के राजभवन में ही सम्भव है। अन्यत्र इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। धन्य है देवी सुमित्रा, जिनकी ऐसी, और इतनी प्रशंसा महारानी कौशल्या करती हैं। उनके त्याग का दृष्टान्त तो अनुपम है। चलूँ, उन्हीं के पास चलूँ। शायद बात बन जाये।

(विराम-बोधक संगीत : अन्तराल)

(नाटक के प्रारम्भ में संकेतित ध्वनि-प्रभाव। विकट-उत्कट ध्वनियाँ। लगता है पहाड़ टूट-टूटकर गिर रहे हैं, समुद्र की लहरें पछाड़ खा रही हैं आँधी-अंधड़ का भयंकर प्रकोप हैं। दिशाएँ काँप रही हैं। दिक्काल चकित-चिन्तित हैं। आवाज कभी तेज, कभी मद्धिम तो कभी क्षीण। यह क्रम कई बार, उलट-पुलटकर सृष्टि को अस्त-व्यस्त कर रही है।)

- महारानी सुमित्रा :** कितनी कठोर कर्कश आवाज है। कहाँ से आ रही है? कुछ हाहाकार, कुछ चीत्कार-सा घुला-मिला है, इन ध्वनियों में। इसके पहले तो कभी ऐसी आवाज नहीं सुनी। अयोध्या के राजभवन को हिलानेवाली ऐसी आवाज आखिर कहाँ से आ रही है? (तीव्र स्वर में) कौन है? आखिर कौन है इस आवाज के पीछे? प्रकट क्यों नहीं होता?
- कालपुरुष :** मैं हूँ महारानी सुमित्रा, मैं। लोग मुझे काल कहते हैं...।
- सुमित्रा :** आपका ऐसे असमय में अयोध्या के राजभवन में आने का उद्देश्य? और, आप जिस पृष्ठभूमि के साथ आये हैं, वह तो मुझे उचित और मंगलकारी नहीं लगता। बताइए, कहाँ आये हैं आप? आपके आने का प्रयोजन?
- कालपुरुष :** बहुत विचश होकर मैं आपके समक्ष उपस्थित हुआ हूँ महारानी! आप तो जानती होंगी कि मैं सारे काम अलक्षित होकर ही करता हूँ। मुझे कहीं, कभी प्रकट होने की आवश्यकता नहीं होती। मेरा प्रकट होना अशुभ माना जाता है...।
- सुमित्रा :** अधिक भूमिका बाँधने की जरूरत नहीं। आप अपने आने का प्रयोजन कहिए...
- कालपुरुष :** कल महान् अन्तर्ग होने जा रहा है महारानी! इसी अयोध्या में, अवध में...
- सुमित्रा :** कैसी बातें कर रहे हैं आप? कल आयुष्मान् राम का राज्याभिषेक होना है। आप अन्तर्ग की बात कर रहे हैं। कहीं आपका दिमाग तो खराब नहीं हो गया?
- कालपुरुष :** हाँ, इसे मेरा दिमाग खराब होना ही माना जायेगा। लोग ऐसा ही मानते हैं? मैं मनुष्य के सोचे-किये में हस्तक्षेप करता हूँ – निर्मम, निष्ठुर हस्तक्षेप। यही मुझे आज भी करना पड़ रहा है। मुझे राम का राज्याभिषेक रोकना है। वे केवल अवध के लिए नहीं बने हैं, केवल अयोध्या के नहीं हैं। सम्पूर्ण आर्यावर्त, विशेषकर इसके पिछड़े इलाके, उनकी बात जोह रहे हैं। दुष्ट-शक्तियों का जो केन्द्र और धुरी है, राम को भंग उसे करना है। वे ही, केवल वे ही, ऐसा कर सकते हैं। उन्हें अयोध्या से विलग कर देश के सुदूर अंचलों की ओर भेजना है...।
- सुमित्रा :** यह सब आप कैसे करेंगे? जरा मैं भी तो सुनूँ?
- कालपुरुष :** यह सब मैं अकेले नहीं कर सकता। अकेले करता भी नहीं। करना भी नहीं चाहता। मुझे तो बराबर निमित्त की तलाश रहती है। मैं संसार के सारे काम सांसारिक जनों से ही कराता हूँ, उन्हीं से कराता रहा हूँ।
- सुमित्रा :** तो आप मेरे पास निमित्त की खोज में आ गये? कहीं ऐसा तो नहीं है कि आप मुझे ही निमित्त बनाना चाहते हैं...।
- कालपुरुष :** ठीक समझा महारानी, आपने बिल्कुल ठीक समझा। मैं आपके पास ही आया हूँ। मैं महारानी कौशल्या से मिलकर आया हूँ। उनकी भी यही राय है कि यह कठिन काम, लगभग असम्भव काम, आप ही कर सकती हैं...।

- सुमित्रा :** दीदी कौशल्या ने ऐसा कहा है? तो क्या वे आपके उद्देश्य से सहमत हैं? तो फिर वे खुद क्यों पहल नहीं करतीं?
- कालपुरुष :** हर आदमी की एक सीमा होती है महारानी! वह सीमा से आगे नहीं जा सकता। यह उसकी विवशता होती है। देवी कौशल्या महीयसी हैं? पर हर महान् में, कुछ-न-कुछ दुर्बलता भी होती है। यहीं दुर्बलता उसे मनुष्य बनाती है, बनाये रखती है। मुझे महारानी कौशल्या की दुर्बलता का आभास हो गया है। मैं इनके द्वार से निराश होकर आपके पास आया हूँ...।
- सुमित्रा :** जो काम दीदी कौशल्या नहीं कर सकी, वह मैं कर सकूंगी, यह आपने कैसे सोच लिया?
- कालपुरुष :** सोचने का आधार है देवी। आपका त्याग, आपकी तितिक्षा सर्वविदित है। आप दे सकती हैं, कुछ भी दे सकती हैं, कोई भी आपके यहाँ से निष्फल नहीं लौट सकता। इसीलिए, इसीलिए तो मैं आपके समक्ष आने का साहस कर सका हूँ।
- सुमित्रा :** प्रशंसा के लिए धन्यवाद! मैं महत्वाकांक्षिणी नहीं हूँ, कभी नहीं रही। असम्भव अलौकिक भूमिकाओं में अवतरित होना, उसे परिणति तक ले जाना, पूरा करना, मेरा व्यसन नहीं है। यह काम तो मेरी छोटी बहन कैकेयी का है। असम्भव ऐतिहासिक कार्यों के लिए जो साहस, योग्यता और तत्परता चाहिए, वह महारानी कैकेयी में है। वही देवासुर-संग्राम में महाराज के साथ गयी थीं। उन्होंने ही वहाँ अपना पराक्रम और कौशल दिखाया था।
- कालपुरुष :** तो क्या मुझे महारानी कैकेयी के पास जाना होगा? उनसे ही निवेदन करना होगा?...
- सुमित्रा :** अवश्य, आपको और कहीं नहीं जाना है, बस महारानी कैकेयी के पास जाना है। वह बहुत दृढ़ चित्त की राजमहिषी हैं? तो फिर कोई उन्हें नहीं रोक सकता। वे सुविचारित को चरितार्थ करने के कार्य में बहुत दृढ़ हैं। कालदेव! आप उन्हीं के पास जायें। जैसे दीदी कौशल्या ने आपको मेरे पास भेजा, वैसे ही मैं आपको महारानी कैकेयी के पास जाने का विचार देती हूँ। शुभ हो आपका और सबका।

(विराम-बोधक संगीत : अन्तराल... पुनः संगीत)

- कालपुरुष :** अब अपने आपसे भी कुछ बातें कर लूँ। कालदेव, अच्छी परीक्षा हो रही है तुम्हारी। तुम अपने को बहुत बड़ा पारखी कहते हो। कार्य के निमित्त पात्र की परख करते रहते हो। यहाँ-वहाँ अटकते-भटकते हो। पर क्या यह नहीं मानते कि लोग भी तुम्हें परखते-देखते हैं। बोलो, ठीक है या नहीं? शायद यही रीति है कार्य करने की। साधारण जन भी तुम्हें भटका-भटका कर देखना-परखना चाहता है कि आखिर तुम अपना सोचा हुआ कैसे कार्यान्वित करते हो। केवल काल ही मनुष्य को नहीं नचाता, मनुष्य भी काल को वैसा

ही, उतना ही, नचाता है। अब नाचो; कालपुरुष! नाचो। चलो अब महारानी कैकेयी के पास।

(अन्तराल)

(नाटक के प्रारम्भ में संकेतित ध्वनि-प्रभाव। विकट-उत्कट ध्वनियाँ। लगता है, पहाड़ टूट-टूटकर गिर रहे हैं, समुद्र की लहरें पछाड़ खा रही हैं। आँधी-अन्धड़-वायु-वेग का भयंकर प्रकोप है। दिशाएँ काँप रही हैं। दिक्काल चकित-चिन्तित है। आवाज कभी तेज, कभी मद्धिम कभी क्षीण। यह क्रम कई बार, उलट-पुलटकर सृष्टि को अस्त-व्यस्त कर रहा है।)

महारानी कैकेयी : आधी रात होने को है! महाराज अभी तक नहीं आये। ऊपर से ये विकट-उत्कट ध्वनियाँ। ये हैं कि बढ़ती ही जा रही हैं, घहराती ही जा रही हैं। मेरे इस शान्त अन्तःपुर को इसने अशान्त कर डाला है। बड़ी कर्कश और मनहूश आवाजें हैं। पता नहीं, कहाँ से आ रही हैं? क्या प्रयोजन है इसका? (तीव्र स्वर में) कौन चीख रहा है ऐसे? ऐसे कोहराम मचाने का प्रयोजन?

कालपुरुष : प्रयोजन है महारानी कैकेयी! मैं कालपुरुष आपका अभिवादन करता हूँ...।

कैकेयी : तो आप हैं कालदेव! आपके आगमन की ही ऐसी पगध्वनि हो सकती है। पर, इस समय मेरे कक्ष में? यह तो महाराज के पधारने का समय है। जो कहना हो जल्दी कहिए और साफ-साफ कहिए।

कालपुरुष : साफ-साफ ही कहूँगा और संक्षेप में ही कहूँगा। कल जो राम का राज्याभिषेक होने जा रहा है, उसे रोकना बहुत जरूरी है...।

कैकेयी : क्या कह रहे हैं आप? कैसी अतर्गल वार्ता है? कैसा कुटिल-कठोर प्रस्ताव है?

कालपुरुष : कुछ भी कुटिल और कठोर नहीं है। राम को अवध और अयोध्या तक सीमित करके उनके प्रति अन्याय किया जा रहा है, उन्हें कठिन ऐतिहासिक अवसरों से वंचित कर उनकी दिगन्त-व्यापी भूमिका को सीमित किया जा रहा है। मैं यह सब नहीं देख सकता महारानी, नहीं सह सकता...।

कैकेयी : तो क्या करेंगे आप? रंग में भंग करेंगे? आयोजन को विफल कर देंगे?

कालपुरुष : विफल नहीं, मैं इसे सफल करना चाहता हूँ। अभी जिस रूप में जो होने जा रहा है, वह अयोध्या और रघुकुल की कीर्ति के अनुरूप नहीं। बड़े प्रतापी, त्यागी और प्रजावत्सल सम्राट् हुए हैं रघुकुल में...।

कैकेयी : तो क्या अब राजकीय प्रताप और प्रजावत्सलता में कमी आ गयी है? क्या आप यही कहना चाहते हैं?

- कालपुरुष :** महारानी! आज जरा दूसरी दृष्टि से सोचिए। रघुवंशियों का साम्राज्य और उनका राजनीतिक दायित्व क्या केवल अवध और अयोध्या तक सीमित है? सुदूर वन-प्रान्तर के अनेक भू-भाग, वहाँ बसी अनेक जातियाँ, ऋषियों-मुनियों के आश्रम, क्या इन सबका कुशल-क्षेम, इनकी सुरक्षा, इनका विकास, रघुकुल का अभिप्रेत नहीं है?
- कैकेयी :** तो क्या यह सब महाराज ने नहीं किया है? उन्होंने तो, बहुत छोटे में, राम और लक्ष्मण को विश्वामित्र को तब सौंप दिया, जब पुत्र राम-लक्ष्मण के खेलने और खाने के दिन थे। आखिर महाराज ने यह सब ऋषियों-मुनियों की रक्षा के लिए ही तो किया। वे यज्ञ-याजन, पठन-पाठन, शस्त्राभ्यास, शास्त्राभ्यास अबाध गति से सम्पन्न कर सकें, इसी के लिए तो राम-लक्ष्मण राजभवन के सुख-वैभव से विलगा कर विश्वामित्र के आश्रम भेजे गये...
- कालपुरुष :** सच है महारानी! सच है। आपका कहा एक-एक शब्द सच है। पर यह कार्य अभी पूरा नहीं हुआ है, अधूरा पड़ा है। यदि बालक राम और लक्ष्मण को ऋषियों, मुनियों और साधारण जनों की रक्षा के लिए तब भेजा गया, तो आज तो वे युवा और अधिक युद्ध-पारंगत हैं। क्या आप नहीं जानतीं कि लंकाधिपति रावण आज अधिक दुर्द्धर्ष हो गया है। उसने अपनी सोने की नगरी लंका को तो पूर्णतः सुरक्षित मान लिया है, और आपके साम्राज्य में, उसके सीमान्त भू-भागों में, निरन्तर घुसपैठ कर रहा है। वहाँ उसके जासूसों के जाल बिछे हैं। किष्किन्धा का दम्भी और घोर अनाचारी शासक बाली देश के लिए एक अलग सिरदर्द है, वह आनेवाले समय में बहुत बड़ी चुनौती हो सकता है। दुष्ट रावण से उसका गठजोड़ है। दोनों मिलकर कुछ भी कर सकते हैं। आज परिस्थितियाँ अधिक विकट हैं। विश्वामित्र तो थोड़े समय के लिए ही राम-लक्ष्मण को ले गये थे। उनका सीमित उद्देश्य था – यज्ञ की रक्षा करना। आज कहीं उससे बड़ा काम सामने हैं। क्षमा कीजिएगा, महारानी! मैं शायद अधिक ही कह गया।
- कैकेयी :** नहीं, कालदेव! नहीं आपने तो भविष्य का बड़ा भयावह चित्र उपस्थित किया है। लेकिन किया क्या जा सकता है? राज्याभिषेक को स्थगित करने की बात तो मैं महाराज से कह सकती हूँ, पर मुझे भय है कि कहीं यह मेरी दुरभिसन्धि न समझ ली जाये। मैं वैसे ही बदनाम हूँ। महाराज पर सबसे अधिक प्रभाव मेरा ही है, ऐसा कहा-माना जाता है। अब यदि राज्याभिषेक स्थगित करने की बात चलाती हूँ तो... (कहते-कहते चुप हो जाती हैं...।)
- कालपुरुष :** कहिए, महारानी! कहिए। कहने में संकोच मत कीजिए। यह संकोच का समय नहीं है।...
- कैकेयी :** केवल राज्याभिषेक स्थगित करना ही तो समस्या का हल नहीं है? जिस महत्तर और बृहत्तर भूमिका का उल्लेख आप कर रहे हैं, उसके लिए तो राम को वन जाना होगा। उन्हें वनवासियों के बीच, उन्हीं की जीवन-शैली अपनाने हुए, एक निश्चित समय तक, रहना होगा। रावण की घुसपैठ रोकना है। किष्किन्धा का विस्फोटक गढ़ तोड़ना है। केवल इतने

से काम नहीं चलेगा। दुष्टों और दम्भियों को उसके घर में घुस कर मारना जरूरी होता है। तभी उसका मूल ध्वस्त होगा, तभी उसका दम्भ टूटेगा...।

कालपुरुष : महारानी! आप तो मुझे अधिक जानती हैं, अधिक सोचती हैं। आपने तो मेरा काम बहुत आसान कर दिया है। अब मुझे विश्वास है कि मेरी योजना सफल होगी।

कैकेयी : कालदेव! मैं आपकी योजना में सहायक तो होना चाहती हूँ। पर मुझे एक ही भय है...।

कालपुरुष : कि लोग आप पर उँगली उठायेंगे, कहेंगे कि महारानी कैकेयी ने सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर दिया...।

कैकेयी : नहीं, मुझे इसकी परवाह नहीं। मैं व्यर्थ की बदनामी से नहीं डरती। मैं जिसे ठीक समझ लेती हूँ, वह करने में मुझे बदनामी का डर नहीं सताता, नहीं रोकता। मैं चिन्तित केवल इसलिए हूँ कि इस प्रसंग में पुत्र भरत का नाम घसीटा जा सकता है, कहा जायगा कि महारानी कैकेयी ने यह सब अपने पुत्र भरत के लिए किया, भरत को राजसिंहासन पर बैठाने के लिए किया...।

कालपुरुष : यह सवाल कहाँ उठता है! राम का राज्याभिषेक रुक ही तो रहा है, एक सीमित अवधि के लिए। राम का अधिकार सदा के लिए तो समाप्त नहीं हो रहा है। राम कहीं रहें, अयोध्या का सिंहासन उन्हीं का रहेगा और वह रिक्त भी नहीं रहेगा। उनका कोई प्रतीक उनके सिंहासन पर रखा जा सकता है। उनकी अनुपस्थिति में अयोध्या का शासन कोई भी प्रभारी व्यक्ति चला सकता है, स्वयं शासित शिष्ट प्रजा के लिए भला सुदृढ़ शासन का क्या प्रयोजन?

कैकेयी : पर इस क्रम में भरत का नाम तो आयेगा...

कालपुरुष : आयेगा, अवश्य आयेगा, पर वह दूसरों द्वारा लाया जायेगा। भरत को प्रभारी शासक दूसरे बनाना चाहेंगे; और कोई विकल्प भी तो नहीं है। आप भरत का नाम क्यों लें? लोग आपसे आग्रह करें कि आप भरत को आदेश दें।

कैकेयी : कालदेव! आज मेरे सामने बड़ी विकट स्थिति है। लगता है मैं देवासुर-संग्राम के बीच महाराज के साथ हूँ। उनके रथ का पहिया धुरी से विलग होकर छिटकनेवाला है। धुरी भूमिसात् होने जा रही है। महाप्रतापी सम्राट् का रथ टूटने-टूटने, गिरने-गिरने को है। ऐसे में ही मैंने हाथ धुरी की जगह लगा दिया है, बिना यह सोचे कि मेरे हाथ का क्या होगा, क्या यह रथ को स्थिर रख पायेगा?... आज फिर ऐसी ही परिस्थिति मेरे सामने है – कहिए कि उससे अधिक विकट परिस्थिति; और फिर इसमें मेरा सब कुछ दाँव पर भी लगना है। कह नहीं सकती कि परिणाम क्या होगा?

कालपुरुष : महारानी! महाराज शायद इधर ही आ रहे हैं। मुझे चलना होगा। *(जाने का आभास)*

(विरामबोधक संगीत... अन्तराल... पृष्ठभूमि में हल्का सुखदायी संगीत)

महाराज दशरथ : (दूरागत आलाप) आज फिर विलम्ब हो गया। पता नहीं, महारानी कैकेयी क्या सोचेगी? उनका यह स्नेहिल आरोप अब सही लगने लगा है कि मैं अब उनके राजभवन में प्रायः विलम्ब से आता हूँ। क्या करूँ? राज्याभिषेक-समारोह की तैयारियों के चलते व्यस्तता बढ़ गयी है।

कैकेयी : आइए, महाराज आइए। कैकेयी के स्नेह-सदन में आपका स्वागत है।

महाराज : देवी! आज मैं फिर विलम्ब से आया हूँ...

कैकेयी : कोई बात नहीं महाराज! यह स्वाभाविक है। आप आ जाते हैं, यही क्या कम है?

महाराज : क्या महारानी कैकेयी व्यंग्य कर रही हैं?

कैकेयी : नहीं महाराज! मैं ऐसा कैसे कर सकती हूँ? आपने ऐसा क्यों सोचा? आप तो...

महाराज : नहीं देवी! मुझे ही लगता है कि...

कैकेयी : कि आज मेरे लिए समुचित समय नहीं दे पा रहे हैं।

महाराज : लगता है, महारानी कुछ अस्थिर हैं। क्या बात है?

कैकेयी : आजकल आप पर राज-काज का अधिक भार है...।

महाराज : मैं इस कार्यभार से बहुत जल्दी मुक्त होनेवाला हूँ। इसलिए यह कार्यभार अब मुझे अधिक नहीं खटकता।

(थोड़ी देर मौन)

महाराज : क्या बात है? देवी कैकेयी! आप शायद कुछ कहना चाहती हैं... क्या मैं सही अनुमान लगा पा रहा हूँ। पर आप कहते हिचक रही हैं? (पुनः मौन) आपको ऐसी हिचक तो कभी नहीं रही। आप अपने मनोभाव अपने मन्तव्य, मुझसे सदा ही निष्कपट रूप में, कहती रही हैं। फिर आज यह मौन और दुराव क्यों?

कैकेयी : पता नहीं क्यों... आज मुझे उलझन-सी हो रही है। कल युवराज राम का राज्याभिषेक है और आज...।

महाराज : क्या, महारानी, क्या? क्या अनुभव कर रही हैं आप? क्या कहना चाह रही हैं आप? निःसंकोच कहिए। दशरथ आपकी हर बात को मान देते हैं, क्या यह आप नहीं जानती?

कैकेयी : जानती हूँ महाराज, जानती हूँ। इसीलिए कहना भी चाहती हूँ...

महाराज : तो फिर हिचक क्यों? कहिए, स्पष्ट कहिए। मैं जानने को उत्सुक हूँ।

कैकेयी : महाराज मुझे यह पूछने की इच्छा हो रही है कि क्या हम केवल वर्तमान में ही जीते हैं? क्या हमें केवल वर्तमान का ही ध्यान रखना चाहिए।

महाराज : महारानी! मैं आपका आशय नहीं समझा। आप अब भी अपना मन्तव्य प्रकट करने से हिचकिचा रही हैं, मेरे आश्वासन के बावजूद...

कैकेयी : आयुष्मान् राम को लेकर मैंने कितने सपने सँजोये हैं। उसपर कितना भरोसा किया है मैंने। मुझे हमेशा ही यह लगता रहा है कि राम रघुकुल में अत्यन्त विशिष्ट हैं। जितने विशिष्ट हैं, उससे और भी विशिष्ट प्रमाणित होनेवाले हैं। उनकी छवि इतिहास में, भविष्य में, दूर तक जानेवाली है...।

(मौन)

महाराज : कहिए, महारानी, कहिए। आप कहती-कहती रुक क्यों गईं? मैं जानता हूँ; राम से आपकी अपेक्षाएँ हम सभी से अधिक रही हैं। आप उसे अत्यधिक चाहती जो हैं। ...अब आप राम को लेकर क्यों आशंकित हैं? क्यों अकुला रही हैं?

कैकेयी : पुत्र राम के साथ बहुत अन्याय होने जा रहा है...।

महाराज : अन्याय? और राम के साथ? कौन कर रहा है यह अन्याय? और कैसे?

कैकेयी : हम सभी। हम सभी राम के प्रति अन्याय कर रहे हैं, घनघोर अन्याय! इसके लिए हमें भविष्य कभी क्षमा नहीं करेगा।

महाराज : महारानी! आप फिर रहस्य बोल रही हैं। ऐसा तो आप कभी नहीं बोलतीं? आज क्या हो गया है आपको? आप अन्याय का कुछ खुलासा भी करेंगी या...।

कैकेयी : महाराज! हम कभी-कभी अपने स्वार्थवश, या कभी-कभी स्नेहवश भी, अपने अतिस्नेह-पात्र के प्रति भी बहुत अन्याय करते हैं। यह अन्याय हमारे ध्यान में नहीं आता। कहने पर भी समझ में नहीं आता। मैं आज इसी उलझन में पड़ी हूँ कि अन्याय होते देखूँ, या उसके प्रतिकार की बात सोचूँ?

महाराज : महारानी! मैं अब भी आपकी बात नहीं समझ पा रहा हूँ। आप मुझे अधिक कातर और अधीर न करें। मैं आपको वचन देता हूँ कि यदि युवराज राम के प्रति अन्याय हो रहा है, फिर यह अन्याय यदि हम कर रहे हैं तो मैं दशरथ आपको वचन देता हूँ कि इसका प्रतिकार किया जायेगा, इसे उचित सन्दर्भ में समझा जायेगा...।

कैकेयी : क्या राम का राज्याभिषेक कर राम को अवध और अयोध्या तक ही सीमित नहीं किया जा रहा है? क्या राम केवल अवध और अयोध्या के लिए हैं? इसी के लिए बने हैं? यही है राम के बारे में हमारा आकलन? क्या राम ऐसे ही अपने पुरस्खों की कीर्ति को प्रसारित करेंगे? क्या वे भी रघुकुल के अन्य शासकों की तरह, एक सामान्य शासक होकर रह जायेंगे? क्या राज्याभिषेक की मोहक शब्दावली या राजकीय समारोह की शोभा और अनुष्ठान के व्याज से उन्हें सीमित नहीं किया जा रहा है?

- कैकेयी :** (किंचित् क्षुब्ध होकर) महाराज आप मेरे प्रति अन्याय कर रहे हैं, ऐसा अन्याय, जिसके बारे में मैं सोच भी नहीं सकती। ऐसा अन्याय, जो शायद आपने कभी मेरे प्रति नहीं किया है...।
- महाराज :** अन्याय! अन्याय! अन्याय! यह मैं क्या सुन रहा हूँ अपनी कैकेयी के मुख से? जिसे मैंने सबसे अधिक चाहा, उसके प्रति अन्याय कर रहा हूँ! क्या अन्याय कर रहा हूँ? जरा महारानी बतायेंगी?
- कैकेयी :** यह आपने कैसे समझ लिया कि किसी ने मेरे कान भरे हैं? मुझे कुमन्त्रणा दी है? क्या आपने अपनी कैकेयी को यही समझा है? इतना ही समझा है? क्या मैं इतनी दुर्बलचित्त हूँ कि कोई भी मुझे प्रभावित कर दे? मैं किसी से भी आसानी से प्रभावित हो जा सकती हूँ? महाराज दशरथ के राजमहल में कौन ऐसा, और इतना प्रबल है कि कैकेयी को प्रभावित करने की बात सोचे भी, करने की बात तो दूर है?
- महाराज :** फिर क्या बात है कि राज्यारोहण के ठीक पहले ऐसी बातें की जा रही हैं? मेरी तो कुछ समझ में नहीं आ रहा। देवी कैकेयी! आपने ये बातें पहले कही होतीं तो इसकी कुछ प्रासंगिकता भी रही होती। इतने समय तक चुप रहने का प्रयोजन?
- कैकेयी :** महाराज मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह जिन बातों के बारे में सोचता रहता है, उसे तत्काल कह नहीं पाता। हमें संकटों का अनुमान होता है, पर तब हम उसके बारे में अधिक नहीं सोचते। लेकिन जब वही संकट, सिर पर उपस्थित हो जाता है, तब हमें कुछ कहने और करने के लिए विवश होना पड़ता है। (मौन) फिर यह बात भी है कि मन में आयी हुई बातें तत्काल नहीं कही जाती, उसके बारे में बहुत सोचना पड़ता है, उसकी परख करनी पड़ती है। इस सबमें वक्त तो लगता ही है।...
- महाराज :** तो महारानी चाहती हैं कि राज्याभिषेक नहीं हो? राम राजा नहीं बनें?...
- कैकेयी :** ऐसा मैंने कब कहा महाराज! और मेरे चाहने और कहने से क्या होता है? सम्राट् आप हैं, आपकी इच्छा सर्वोपरि है, आप जो चाहेंगे, वही होगा। मैं अपनी बातों से आपको प्रभावित कर सकती हूँ, या आपको बाध्य कर सकती हूँ, ऐसा तो मैं सोच ही नहीं सकती।...
- महाराज :** तो फिर मुश्किल क्या है देवी!
- कैकेयी :** ठहरिए महाराज! मुझे अपनी बात पूरी कर लेने दीजिए! अवधनरेश! क्या अयोध्या की राजसत्ता इतनी दुर्बल है कि एक साधारण नारी उसके निर्णय में हस्तक्षेप करें, उसमें संध लगाने का साहस करे? मैंने तो आपके सामने अपनी बात रखी है, अपना द्रन्द्र रखा

है, आप विचलित न हों। आपको तनिक भी असुविधा और कष्ट हो, तो मैं अपनी कही एक-एक बात वापस लेती हूँ।

महाराज : *(उससँ लेकर)* महारानी कैकेयी आपने मुझे दुविधा में डाल दिया है। मैं आपसे असहमत नहीं हो सकता, पर सहमत भी नहीं हो सकता। *(मौन)...* हाँ, एक उपाय है...

कैकेयी : कौन-से उपाय की बात कर रहे हैं, महाराज? यदि आप सहमत नहीं हो सकते तो आपका असहमत होना ही स्वाभाविक है। इसमें और किसी उपाय की क्या उपादेयता?

महाराज : उपादेयता है महारानी! जब मैं आपके दृष्टिकोण से असहमत नहीं हूँ तो स्पष्ट है कि आपकी बातों में दम है। पर सहमत न हो पाना मेरी अपनी मजबूरी है। आप मेरी उस मजबूरी को ढहा सकती हैं...।

कैकेयी : मैं कुछ समझी नहीं महाराज! आप क्या कहना चाहते हैं? साफ-साफ कहिए।

महाराज : देवी, आपको स्मरण होगा कि देवासुर-संग्राम में जब आपने मेरे रथ को भूमि सातू होने से बचाया था, तब मैंने आपसे दो मनचाहे वर माँगने को कहे थे। तब आपने मुझसे कुछ नहीं माँगा था, यह कहकर मुझे चुप कर दिया था कि यथावसर, जरूरत पड़ने पर, आप वे दो वर माँग लेंगी। आज आप उन दो वरों का सहारा लेकर मुझे विवश कर सकती हैं, मुझसे अपनी बात मनवा सकती हैं...।

कैकेयी : यह क्या कह रहे हैं महाराज! आज तो आप मेरे प्रति अन्याय ही अन्याय करते चले जा रहे हैं।

महाराज : अन्याय करता चला जा रहा हूँ! मतलब? मेरे द्वारा किये गये अन्यायों की तालिका है आपके पास? जरा मैं भी तो सुनूँ कि मैंने कौन-कौन से अन्याय किये हैं आपके प्रति?

कैकेयी : महाराज! मैं वरदान का सहारा लेकर आपको कुछ करने को विवश करूँगी, यह आपने कैसे सोच लिया? जब आपने वर दिया, और बदले में मैंने कुछ नहीं माँगा, तो शायद आप मेरा आशय ठीक-ठीक नहीं समझ सके। मैं आपके वर को अस्वीकार नहीं कर सकती थी। क्या मैं आपसे कहती कि मुझे वर की कोई आवश्यकता नहीं है? क्या यह उचित होता? क्या यह आपके अनुग्रह की अवज्ञा नहीं होती? वे वर आपने दिये और मैंने युक्तिपूर्वक उन्हें लौटा दिया। क्या वर के आधार पर ही मैं आपसे कुछ करा सकती हूँ? तब तो मैं आपकी अर्द्धांगिनी नहीं। आप पर मेरा कोई अधिकार नहीं।

महाराज : देवी कैकेयी! आप तो मुझे चकित कर रही हैं। मैं आपका एक बिल्कुल नया रूप देख रहा हूँ। आपने अपनी मौलिकता से, बुद्धिमत्ता से मुझे अभिभूत कर लिया है। आपको फिर कई-कई वर देने का मन करने लगा है। लेकिन आप मेरे द्वारा दिये वर के प्रति

जो दृष्टि रखती हैं, उससे ऐसा साहस नहीं होता कि फिर आपसे वर की बात करूँ। पर मैं आपकी बात कैसे मानूँ, उसे कैसे पूरी करूँ, यह भी तो समझ में नहीं आता।

कैकेयी : महाराज! मैं एक बात और भी सोचती रही हूँ। किसी युवराज को राजगद्दी पर बैठने के पहले अपने राज्य की व्यापक परिक्रमा करनी चाहिए, गहन देशाटन करना चाहिए। ऐसा करते ही वे राज्य में, हाशिये पर पड़ी प्रजा को, उसके सुख-दुःख को, उसकी समस्याओं को, ठीक-ठीक जान सकते हैं, समझ सकते हैं। और, तभी वे राजसत्ता प्राप्त करने पर उनकी समस्याओं का समाधान भी कर सकते हैं। मैं समझती हूँ कि हर निवर्तमान राजा का कर्तव्य होता है कि वे इस दृष्टि से भी भावी सम्राट् को प्रशिक्षित करें। राजगद्दी पर बैठने के बाद राजा को इतना अवकाश कहाँ रहता है कि वे सुदूरवर्ती प्रजा-जनों की सुध-बुध ले सकें, उसका प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त कर सकें। गुप्तचरों द्वारा प्राप्त सूचनाओं की आखिर कोई सीमा तो होती ही है।

महाराज : मुझे प्रसन्नता है महारानी, मैं आपके दृष्टिकोण को, अब ठीक-ठीक समझ पा रहा हूँ। पर इसे कार्यान्वित कैसे करूँ, यही नहीं समझ पा रहा। इसीलिए मैं आपसे निवेदन कर रहा हूँ कि आप उन दो वरों के आधार पर राम को अयोध्या से विलग कर वन-परिक्रमा पर भेज दें।

कैकेयी : और इस प्रकार मेरी और आपकी दोनों की कीर्ति मलिन हो जाय? दोनों की निष्कलंक छवि में दाग लगे... महाराज क्या आप यही चाहते हैं?

महाराज : मैं कुछ समझा नहीं देवी! क्या आशय है आपका?

कैकेयी : लोग यही कहेंगे न कि कैकेयी ने छलपूर्वक स्वार्थवश, महाराज को विवश कर अपनी बात मनवा ली। आप सारा दोष मेरे सिर मढ़ देना चाहते हैं। पर स्मरण रखिए, ऐसा होने पर प्रजा जब यह भी कहेंगी कि महाराज दुर्बलचित्त हैं; वे महारानी के कूटनीतिक दाव-पेंच में मात खा गये तो मैं इस रूप में आपको देखा जाना पसन्द नहीं कर सकती। यह मेरे लिए लज्जा और परिताप का विषय होगा।

महाराज : तो फिर मैं क्या करूँ? (आकुल-व्याकुल होकर) क्या करूँ मैं महारानी, आप ही बताइए। आप ही कोई उपाय निकाल सकती हैं देवी कैकेयी! मैं जानता हूँ आपपर मुझे पूरा भरोसा है।

कैकेयी : उपाय तो है!

महाराज : तो शीघ्र बताइए देवी! शीघ्र। मैं जानने को बहुत उत्सुक हूँ।

कैकेयी : महाराज, आप आज अभी अपने सभासदों, कुलगुरु, पुरोहितों की एक आपात बैठक आहूत कीजिए। उनके सामने अपना मन, अपना अन्तर्द्वन्द्व, रखिए। उसमें राम-लक्ष्मण,

कौशल्या दीदी, सुमित्रा दीदी सबका सहयोग लीजिए। पर ध्यान रहे कि बात आप की अपनी लगनी चाहिए। आप मुझसे विमर्श कर, किसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, इसका तनिक भी आभास किसी को न हो। आप जो करना चाहते हैं, उसे प्रस्ताव-रूप में ही विचारणीय बनाकर रखें, सबसे निवेदन करें कि आप सामूहिक निर्णय से ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे।

महाराज : क्या वे मान जायेंगे?

कैकेयी : आप कैसे मान गये? मैं कैसे मान गयी? सच तो यह है कि हर मनुष्य में एक निरुपाधिक सत्ता, एक दूरदर्शी विवेकशील मनुष्य भी छिपा बैठा होता है। हम अपने स्वार्थों, माया-मोह में धिरे होने के कारण ही उसपर ध्यान नहीं दे पाते। पर यदि अवसर आने पर वह निरुपाधिक सत्ता सजग हो जाती है, या कोई उसे सजग कर देता है, तब वह कालातीत ऐतिहासिक निर्णय करने में भी समर्थ होता है। आज की रात रघुकुल के इतिहास में एक ऐसी रात हो, जो कभी भुलाई नहीं जा सके।

महाराज : देवी कैकेयी, ऐसा ही होगा। मैं अभी राजकीय घोषणा करता हूँ।

कैकेयी : मैं एक बात और स्पष्ट कर देना चाहती हूँ। आज रात यह निर्णय होना इसलिए भी जरूरी है कि कल का जो सूर्योदय हो, उस प्रकाश में अयोध्या में एक नई हलचल, एक नया संकल्प दीखे। अयोध्यावासी आयुष्मान् राम को विषण्ण और उदास मन से नहीं, हर्ष और उल्लास से भर कर एक अद्वितीय और दुर्लभ काल-यात्रा के लिए विदा करें – इस आशा के साथ कि वे जल्द ही सफल होकर अयोध्या लौटेंगे और तब उस राज्याभिषेक-समारोह में वे असंख्य गिरिजन, आदिवासी, वनवासी, हाशिए पर पड़ी हुई प्रजा भी, उतने ही अधिकार के साथ, उतने ही उल्लास के साथ, अपनी भागीदारी को सार्थक और चरितार्थ देखकर झूमने-नाचने गाने लगेंगे। तब होंगे राज्याभिषेक के परम पावन अवसर पर राम के परम सेवक और विशिष्ट भक्त हनुमान् भी। हनुमान् के बिना तो राम-दरबार की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

महाराज : यह हनुमान् का ख्याल कहाँ से आया आपको महारानी? कौन हैं ये हनुमान्? कहाँ है? राम को कब मिलेंगे?

कैकेयी : लीजिए काल की दिव्य-दृष्टि! अपने आपमें उसे उन्मीलित होने दीजिए। सुनिए, ऋष्यमूक पर्वत पर उनका सुग्रीव से संवाद।

(विराम-बोधक संगीत... अन्तराल... सुखद संगीत)

सुग्रीव : मित्रवर हनुमान्! क्या सोचते रहते हैं हर समय आप? दिशाएँ निहास्ते रहते हैं आप! लगता है, हर क्षण आपको किसी की अधीर प्रतीक्षा है।

- हनुमान् :** हाँ वानरराज सुग्रीव! मुझे अपने प्रभु राम की प्रतीक्षा है। चिकल प्रतीक्षा है, उत्कट प्रतीक्षा है...।
- सुग्रीव :** तो फिर आप उन्हें ढूँढने के लिए, पाने के लिए निकल क्यों नहीं पड़ते? क्यों ऋष्यमूक पर्वत पर अटके पड़े हैं?
- हनुमान् :** मैं आपको छोड़कर नहीं जा सकता वानरराज! मैं आपका सख्ता हूँ, सेवक हूँ, हितैषी हूँ? फिर राम की आवश्यकता तो आपको भी है। वे ही आपके उद्धारक होंगे। किष्किन्धा का राज्य, बलात्, छीनी गयी पत्नी, वे ही आपको वापस दिला सकते हैं।
- सुग्रीव :** क्या वे मेरे दुष्ट भाई बाली से निबट सकते हैं?
- हनुमान् :** वे किसी से भी निबट सकते हैं। वे सर्वशक्तिमान् हैं। अद्वितीय धनुर्धर हैं। उनके साथ उनके परमवीर भाई, योद्धा लक्ष्मण हर समय छाया की तरह रहते हैं। हमें उनकी प्रतीक्षा है, अधीर प्रतीक्षा। वे हमें यही मिलेंगे; मेरी छठी संज्ञा यही कहती है। मुझे उनके कई काम करने हैं। मुझे जीवन-पर्यन्त उनकी सेवा में रहना है। माँ सीता, लक्ष्मण, अयोध्या, तीन-तीन राजमाताएँ मेरे भाग्य में हैं; मैं हर क्षण उन्हें ही जपता हूँ। हर क्षण काल-दृष्टि से उन्हें ही देखता हूँ...।

(विराम-बोधक संगीत... अन्तराल... पुनः संगीत)

- कैकेयी :** ऐसे न जाने कितने जन राम की प्रतीक्षा में हैं। निषादराज हैं, मुनि अत्रि और उनकी पत्नी अनसूया हैं, भक्ति-बावरी शबरी हैं...।
- महाराज :** और आप अपनी दिव्य कालदृष्टि से सब कुछ देख रही हैं देवी! धन्य हैं आप। और आप बस सब दिखा रही हैं मुझे भी, जो अबतक केवल अयोध्या के राज-पाट और ठाठ-बाट में खोया पड़ा है।
- कैकेयी :** बहुत कुछ घटित होनेवाला है महाराज! शुभ और मंगलमय। हमें प्रतीक्षा करनी है।
- महाराज :** और महारानी! सबसे बड़ी बात यह होगी कि अब मैं पुत्र-वियोग का तनिक भी अनुभव न करूँगा, बिस्तर पर लेटे कुहर-कुहर कर यन्त्रणादायक मौत की पदचाप न सुनूँगा। मुझे प्रतीक्षा रहेगी राम के लौटने की, स्थगित राजभिषेक को दूने उत्साह के साथ सम्पन्न करने की।
- कैकेयी :** और इसमें हम सभी आपके साथ होंगे महाराज! ईश्वर हमारी मनोकामना पूरी करे।

(तीव्र सुखदायक संगीत से समापन)

ऋतंवर

पो०+जिला- गोड्डा-८१४१३३, (झारखण्ड)



गोस्वामी तुलसीदास अविवाहित थे

ब्रजनन्दन प्रसाद सिंह

ऐसा अनुमान सहज किया जा सकता है कि मध्ययुग में तुलसी नाम के अनेक व्यक्ति हुए थे। ये चारों श्रीराम-भक्त एवं रचनाकार रहे होंगे। आज के युग में भी नाम और कार्य की समानता होने पर एक की जीवन-गाथा दूसरे की जीवन-गाथा से उलझती है, परन्तु गवेषणा द्वारा वह उलझन दूर हो जाती है। मध्ययुग में जहाँ एक ओर साहित्यकारों में आत्मकथा लिखने की परम्परा नहीं थी, वहीं दूसरी ओर उस समय साहित्यकारों की जीवनगाथा लिखने के साधन (पत्र-पत्रिका और साहित्यिक संस्थान आदि) भी नहीं थे। इसलिए उस युग के प्रायः सभी साहित्यकारों की जीवनगाथा विवादास्पद है।

साहित्यकार भावुक होता है, अतः वह प्रसंगानुसार अपनी जीवनगाथा अस्पष्ट रूप में प्रकट कर ही देता है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपनी कई रचनाओं में अपनी जीवनगाथा कही है। अतः उनकी रचनाओं में ही उनकी वास्तविक जीवनगाथा सन्निहित है। किसी व्यक्ति की जीवनगाथा-सम्बन्धी स्वकथन (अन्तःसाक्ष्य) परकथन से अधिक प्रामाणिक होता है। कविता अभिधा, व्यंजना और लक्षणा में प्रकट होती है। अभिधा में शब्दों के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ द्वारा अभिप्राय प्रकट होता है, अतः उसके अभिप्राय में मतभेद नहीं होता। व्यंजना और लक्षणा में शब्दों के असाधारण अर्थ द्वारा अभिप्राय प्रकट होता है, अतः उसके अभिप्राय के सम्बन्ध में मतभेद होता होता है। विडम्बना यह है कि तुलसी साहित्य के विद्वानों ने उनके द्वारा अभिधा में प्रकट

की गयी जीवन-गाथा की जगह उनके व्यंजनात्मक कथन के आधार पर उन्हें विवाहित घोषित करते आ रहे हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है—

गोस्वामी तुलसीदास ने अभिधा में कहा—
ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं।

(विनयपत्रिका पद : ७६)

अर्थात्, मैंने विवाह नहीं किया, इसलिए मुझे जाति-पाँति से कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्होंने आगे कहा—

सखा न, सुसेवक न, सुतिय न, प्रभु आप।

माय-बाप तुही, साँचो तुलसी कहत।।

(विनयपत्रिका पद : २५६)

अर्थात्, हे प्रभु! मुझे न मित्र है, न सेवक है, न पत्नी है और न कोई प्रभु (नाथ) है, आप ही मेरे माता-पिता हैं, तुलसी यह सच्ची बात कहता है,

जीवन के अन्तिम समय में सत्य को साक्षी रखकर अपने इष्टदेव के समक्ष उन्होंने स्पष्ट रूप से विवाह न करने तथा पत्नी न होने की बात कही। उनके इस स्पष्ट आत्मकथ्य (अन्तःसाक्ष्य) के बावजूद उन्हें विवाहित मानना असंगत है, उनके साथ घोर अन्याय करना है, अब उनके अविवाहित होने सम्बन्धी व्यंजना में व्यक्त आत्मकथ्य का विवेचन प्रस्तुत है—

तुलसी सरनाम गुलाम है राम को।

(कवितावली : ७।१०६)

अर्थात्, तुलसीदास श्रीराम का प्रसिद्ध गुलाम (दास) है। उन्होंने आगे कहा—

भौंह कमान सन्धान सुठान जे
नारि विलोकनि बानते बाँचे।
नीकै है साधु सबै तुलसी,
पर नेई रघुवीर के सेवक साँचे।।

(कवितावली : ७।११८)

अर्थात्, साधु तो सभी अच्छे हैं, परन्तु जो भ्रुकुटि रूप कमान पर अच्छी प्रकार चढ़ाए हुए कामिनी-कटाक्ष रूप बाण से बचा रहे (बाल-ब्रह्मचारी रहे) वही श्रीराम का सच्चा दास है।

उन्होंने ऊपर जहाँ एक ओर अपने को प्रसिद्ध रामदास कहा, वहीं दूसरी ओर उन्होंने सच्चा रामदास का लक्षण बाल-ब्रह्मचारी होना बतलाया। वे आत्म-प्रसंशा से दूर रहनेवाले सन्त थे, अतः उन्होंने अन्योक्ति के माध्यम से (व्यंजनात्मक शैली में) अपने को बाल-ब्रह्मचारी कहा। उन्होंने अपनी पुस्तक दोहावली में कहा—

खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय त्याग।

कै खरिमा मोहि मेलि कै विमाय विवेक विचार।।

(दोहावली : २५५)

अर्थात्, हे साधु! जिस प्रकार आप खरिया (कन्धे पर लटकाए जानेवाले दो मुँहे झोले) में चन्दन करने के लिए खरी (सफेद गोपीचन्दन) और आरती के लिए कपूर अपने साथ रखते हैं, उसी प्रकार आप या तो पत्नी को खरिया में डालकर रखें (नारी-पुरुष में अभेददृष्टि रखकर पत्नी को साथ रखें) अथवा पत्नी को निर्मल ज्ञान और विचार दें, ताकि वह घर में ही विरक्त होकर रह सके।

यदि वे स्वयं तथाकथित पत्नी को त्याग कर साधु बने होते, तो वे साधुओं को पत्नी को साथ रखने का उपदेश नहीं देते। उनके उपर्युक्त कथन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे बाल-ब्रह्मचारी थे।

उन्हें विवाहित माननेवाले लोग कहते हैं कि उपर्युक्त दोहा उनकी तथाकथित पत्नी रत्नावली की है। किसी ग्रन्थ के किसी कथन से सैद्धान्तिक मतभेद होने पर उस कथन को दूसरे की रचना मानने पर तो उस ग्रन्थ की प्रामाणिकता ही नहीं रहेगी। किसी

पुस्तक में दूसरे द्वारा जोड़ा गया कथन क्षेपक कहलाता है। क्षेपक उसे कहते हैं, जिसका पूर्ववर्ती और परवर्ती प्रसंग से सम्बन्ध न हो। इस दोहा का सम्बन्ध इसके परवर्ती दोहा (२५६) से है, अतः यह क्षेपक नहीं है। प्रस्तुत है, इसके परवर्ती दोहा (२५६) का विवेचन—

घर कीन्हें घर जात है, घर छोड़इ घर जाइ।

तुलसी घर वन बीच ही, राम प्रेम पुर छाड़।।

(दोहावली : २५६)

अर्थात्, लौकिक घर बसाने (विवाह करने) से पारलौकिक घर नष्ट होता है और पारलौकिक घर बसाने के लिए परिवार को त्यागने पर लौकिक घर नष्ट होता है। अतः घर और वन के बीच से रहकर (गृहवासी और वनवासी न बनकर समाज में ही रहकर) श्रीराम के प्रेम में लीन रहना चाहिए। उनके इस कथन से ज्ञात होता है कि उन्होंने न तो विवाह करके घर बसाया और न विवाहित पत्नी को त्यागकर साधु बने, बल्कि अविवाहित रहकर समाज में ही रहकर श्रीराम-प्रेम में लीन रहे। इस दोहा में भी उन्होंने अन्योक्ति के माध्यम से अपनी जीवनगाथा कही है।

उन्हें विवाहित माननेवाले लोग उनके जिन कथनों के आधार पर उन्हें विवाहित मानते हैं, उनका विवेचन प्रस्तुत है—

कछु ह्वै न आई गयो जनम जाय।

अति दुर्लभ तन पाइ कपट तजि

भजे न राम मन-बचन-काय।

लरिकाई बीती अचेत चित,

चांचलता चौगुने चाय।

जोबन-जुर युवती कुपथ्य करि,

भयो ति दोष भरि मदन बाय।।

मध्यम बयस धन हेतु गवाई,

कृषी बनजि नाना उपाय।

राम विमुख सुख लह्यो न सपनेहुँ,

निसिबासर तयौ तिहुँ ताय।।

जिन्ह लजि निज परलोक बिगार्यो,
ते लजात होत ठाढ़े ठाँय।
तुलसी अजहूँ सुमिरि रघुनाथहिं,
तर्यो गयंद जाके एक बाँय।।

(विनयपत्रिका पद : ८३)

अर्थात्, उपर्युक्त पद के सारांश हैं—

(१) बालपन खेल में बिताना।

(२) जवानी में युवती के संग बिताना।

(३) जवानी के बाद कृषि और व्यापार से धनोपार्जन करना।

(४) परिजन द्वारा उपेक्षित होना।

(५) राम-भजन नहीं करने के कारण सुख से वंचित होना।

स्मरण रहे कि गोस्वामी तुलसीदास का लड़कपन खेल में नहीं, बल्कि भिक्षाटन में बीता था। इसका प्रमाण उनकी यह आत्मकथा है—

बारे ते ललात विललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हों चारि फल चार ही चनक को।

(कवितावली : ७।७३)

अर्थात्, मैं बालपन में अत्यन्त दीन-हीन होने के कारण द्वार-द्वार ललचाता और विलखता फिरता था। उस समय मेरे लिए चना के चार दाने अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के समान थे।

आदि शंकराचार्य भी बाल-ब्रह्मचारी थे, परन्तु उन्होंने कहा—

बालस्तावत् क्रीडासक्तः तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।

वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः।।

(भज गोविन्दम् स्तोत्र)

अर्थात्, बाल्यावस्था खेल में बीती, युवावस्था नारी के संग बीती, वृद्धावस्था चिन्ता में बीती, धर्म में कोई अनुरक्त नहीं हुआ।

स्मरण रहे कि जिस प्रकार बाल-ब्रह्मचारी आदिशंकराचार्य ने युवावस्था नारी संग बिताने की बात कही, उसी प्रकार बाल-ब्रह्मचारी होते हुए भी गोस्वामी तुलसीदास ने जवानी नारी संग बिताने की बात कही है। अतः आदिशंकराचार्य और गोस्वामी

तुलसीदास द्वारा युवावस्था नारी संग बिताने सम्बन्धी कथन उनकी निजी जीवन-गाथा नहीं है, बल्कि सामान्य-जनों की जीवन-गाथा है।

मध्ययुग की बात तो दूर, आज के युग में भी साधु का जीवन-यापन दान-दक्षिणा से होता है, कृषि और व्यवसाय से नहीं। गोस्वामी तुलसीदास साधु के साथ महान् साहित्यकार थे, अतः उनके द्वारा खेती और व्यापार करने की बात करना उचित नहीं होगी। उन्हें विवाहित माननेवाले लोग भी उन्हें निःसन्तान मानते हैं, अतः परिजन द्वारा उपेक्षित होने की बात भी उन पर लागू नहीं होती। गोस्वामी तुलसीदास का आत्मकथ्य (अन्तःसाक्ष्य) है—

प्रीति रामनाम सों प्रतीति राम नाम की,
प्रसाद रामनाम के पसारि पाय सूतिहौं।

(कवितावली-उत्तरकाण्ड : ६६)

अर्थात्, मुझे राम-नाम से प्रीति है, राम नाम से ही विश्वास है और मैं राम-नाम की कृपा से पैर पसारकर (निश्चिन्त होकर) सोता हूँ। उनके इस आत्मकथ्य से ज्ञात होता है कि राम भजन बिना सुख से विमुख होने सम्बन्धी कथन नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि विनयपत्रिका का पद-८३ गोस्वामी तुलसीदास की जीवनगाथा नहीं है, बल्कि ज्ञान-सम्बन्धी उपदेशात्मक-कथन है। गोस्वामी तुलसीदास ने हनुमानबाहुक (पद : ४०) में कहा है—

पर्यो लोकरीति में पुनीत प्रीति राम राय,
मोहवश बैठो तोरि तरकि तराक हौं।

अर्थात्, मैं लोकरीति में पड़कर अज्ञानतावश रामचन्द्रजी के चरण की पवित्र प्रीति को चटपट (संसार में) में कूदकर तोड़ बैठा। इसके अगले पद (४१) में उन्होंने कहा—

नीच यहि बीच पति पाइ भरू हाइगो,

बिहाई प्रभु भजन बचन-मन-काय को।

अर्थात्, यह नीच (तुलसी) राम-भजन से जनप्रतिष्ठा पाकर फूल उठा और तन-मन-वचन से

श्रीराम का भजन करना छोड़ दिया। इस पद से स्पष्ट ज्ञात होता है कि लोकरीति में पड़ने का अर्थ प्रतिष्ठा रूपी पंक में फँसकर (साधु की प्रसिद्धि पाकर) राम-भजन से विमुख होना है। अतः 'लोकरीति' में पड़ने का अर्थ विवाह करना नहीं है। इसलिए इस कथन के आधार पर उन्हें विवाहित मानना तर्कसंगत नहीं है।

गोस्वामी तुलसीदास ने युवावस्था (संवत् १५८२) में 'पार्वतीमंगल' और 'राम लला नहछू' नामक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें उन्होंने विवाहोत्सव के अवसर पर गानेवाली युवतियों के सौन्दर्य का वर्णन किया। कुछ लोग उनके शृंगार रस की इन रचनाओं के कारण उन्हें विवाहित मानते हैं। ज्ञातव्य है कि आदि शंकराचार्य बाल-ब्रह्मचारी थे, परन्तु उन्होंने 'सौन्दर्यलहरी' में सौन्दर्य का अद्भुत वर्णन किया है। अतः शृंगाररस की रचना करने के कारण गोस्वामी तुलसीदास को विवाहित मानना असंगत है।

कुछ लोग गोस्वामी तुलसीदास को निम्नांकित जनश्रुति के दोहों के आधार पर उन्हें विवाहित मानते हैं, यथा—

(१) जब गोस्वामी तुलसीदास ससुराल में रात को पत्नी से मिले, तब उनकी पत्नी ने कहा—

लाज न लागत आप को दौरे आयेहु साथ।
धिक्-धिक् ऐसे प्रेम को कहाँ कहाँ मैं नाथ।।
अस्थिचर्ममय देहमय तामे जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ, होती क्यों भवभीति।।

(२) जब गोस्वामी तुलसीदास पत्नी को त्यागकर घर से चले गए, तब उनकी पत्नी ने उनके पास यह पत्र भेजा—

कटि जी खीनी कनक सी रहत सखियन संग सोय।
मोहि फटे का डर नहीं, अनत करे डर होय।।

इस पत्र के उत्तर में गोस्वामी तुलसीदास ने कहा—

करे एक रघुनाथ संग, बाँधि जटा सिर केस।
हम तो चारवर प्रेम रस, पत्नी के उपदेस।।

उपर्युक्त दोहों में से किसी भी दोहा में 'तुलसी' के नाम का उल्लेख नहीं है; अतः इन दोहों को

उनका कथन मानना असंगत है। स्मरण रहे कि गोस्वामी तुलसीदास के जितने भी स्फुट दोहे (ग्रन्थ के बाहर के दोहे) मिलते हैं, उनमें उनका नाम (तुलसी) अवश्य रहता है। इस सम्बन्ध में उदारहण प्रस्तुत हैं—

तुलसी पंक्षी के पिये सरिता घटे न नीर।
धर्म किए धन ना घटे जो सहाय रघुवीर।।
हों चाकर रघुवीर के, पटब लिखो दरबार।
तुलसी अब का होहिंगै, नर के मनसबदार।।

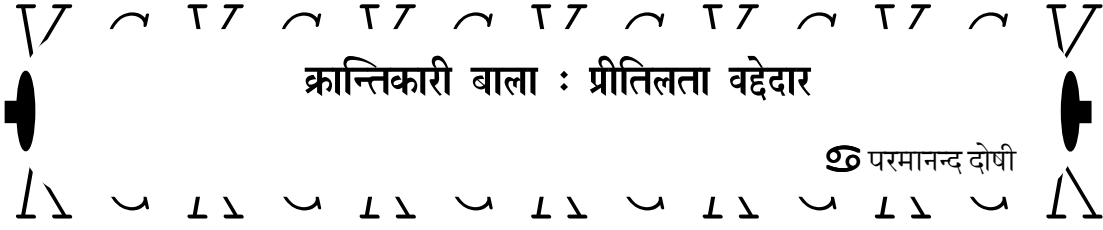
ज्ञातव्य है कि यह दोहा उन्होंने अकबर द्वारा मनसबदार बनने के निमन्त्रण को अस्वीकार करते हुए कहा था।

वस्तुतः उन्हें विवाहित सिद्ध करनेवाले लोगों ने जनश्रुति पर आधारित दूसरों से सम्बन्धित उपर्युक्त दोहों को तुलसीदास के साथ जोड़ा है, अतः उपस्थापित किये गये तथ्य हेत्वाभास हैं। किसी बात को सिद्ध करने के लिए उपस्थित किया गया वह कारण, जो कारण सा प्रतीत होता हुआ भी वास्तविक कारण न हो, हेत्वाभास कहलाते हैं।

तुलसी-रत्नावली गाथा में कहा गया है कि तुलसीदास पत्नी से ससुराल में कोठे (बहुमंजिला मकान) पर मिले। आज से पाँच दशक पूर्व तक कोठेवाला मकान अत्यधिक धनी व्यक्ति का होता था, सामान्य व्यक्ति का नहीं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि गोस्वामी तुलसीदास निर्धन व्यक्ति थे, अतः उनका विवाह कोठेवाले परिवार में होने की बात असंगत है। उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली और दोहावली आदि के रचनाकार गोस्वामी तुलसीदास अविवाहित थे, अतः रत्नावली सम्बन्धी गाथा का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

डी०- ६६ (पी० सी० कालोनी),
लोहियानगर,





क्रान्तिकारी बाला : प्रीतिलता वद्देदार

परमानन्द दोषी

हमारे देश की मिट्टी की कुछ ऐसी विशेषता रही है कि इससे उत्पन्न मनुष्य, चाहे वह पुरुष हो या नारी, नवयुवक हो या वयस्क, अधेड़ उम्र का हो अथवा मृत्यु का आलिंगन करने के लिए उसके कगार पर खड़ा अस्सी-पचासी वर्ष का बूढ़ा, समय आने पर अपने

को लौह-काय और लक्ष्य को तीक्ष्ण बनाकर शत्रुओं के सम्मुख दुर्लभ्य पर्वत बनकर खड़ा हो जाने में जरा भी हिचकिचाहट का अन्तुभव नहीं

करता और विशेषतः जब देश की मर्यादा का सन्दर्भ हो। इन साहसी, स्वाभिमानी, उन्मुक्त-चित्त देशभक्त पुरुषों के समान हमारे नारी-रत्न भी अपनी कोमलता, सौन्दर्य एवं विलासिता को त्यागकर अपना और अपने देश की लज्जा की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाते रहे हैं।

देश पर मरने-मिटनेवाली, देश के लिए जान देनेवाली महिलाओं की श्रृंखला रही है अपने यहाँ। झाँसी की रानी और उसकी दासी झलकारी, अहिल्याबाई होल्कर, महारानी दुर्गावती, किन्नूर की चिन्नमा, अवध की बेगम हजरत महल, दिल्ली की जीवत महल, अजीजन बाई— ये सबकी सब देश की प्रतिष्ठा के लिए प्राणपन से जुटी थीं। कवचित्रियों में सरोजनी नायडू, सुभद्राकुमारी चौहान जैसी

महिलाओं का देश की रक्षा की दिशा में प्रदत्त अवदान कम महत्त्व नहीं रखता और स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रहे हमारे नेताओं की महिला रिश्तेदारों, खास करके उनकी जीवन-संगनियाँ, उनके कदमों से कदम मिलाकर चलती रही हैं और उस

क्रम में उन्हें अपार कष्टों, यन्त्रणाओं को वरण उन्हें करते रहना पड़ा है। विशेष रूप से, गाँधीजी की धर्मपत्नी माता कस्तूरबा, जवाहरलाल जी की

बहन विजयालक्ष्मी पण्डित और पत्नी कमला नेहरू, कृपलानीजी की जीवन-सहचरी सुचेताजी, आसफ अली की अर्धांगिनी अरुणा जी, जे० पी० की जीवन-संगिनी प्रभावती जी, शहीद फुलेना प्रसाद की पत्नी तारा रानी श्रीवास्तव आदि के नाम इस प्रसंग में उदारहण के रूप में भली-भाँति प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

वैसे स्वतन्त्र रूप से भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में सम्मिलित होनेवाली महिलाओं की संख्या कम नहीं है। पुष्पा मेहता, मातंगिनी हाजरा, कनकलता बरुआ, कल्पना दत्त, बिहार की बहुरिया जी जैसी नवयुवतियों और नारियों के योगदान को नकारा नहीं जा सकता।

[भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम में नारियों का भी कम योगदान नहीं रहा है। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, दासी झलकारी, अहिल्याबाई, महारानी दुर्गावती, किन्नूर की रानी चिन्नमा आदि अनेक नारियाँ थीं, जिन्होंने सर्वस्व समर्पित कर स्वातन्त्र्य-संग्राम में भाग लिया था। इन्हीं वीरांगनाओं में एक प्रीतिलता वद्देदार, चटगाँव-क्रान्ति के महानायक 'सूर्यसेन दा' की सहयोगिनी थी। मध्यम-वर्गीय परिवार की इस वीर-बाला का आख्यान यहाँ प्रस्तुत है।
—सं०/

प्रीतिलता वहेदार ऐसी ही नवयुवतियों में से एक थीं, जिन्होंने स्वयं अविवाहित रह कर मुक्ति-संग्राम के राष्ट्रीय यज्ञ में अपने बहुमूल्य प्राणों की आहुति दे दी थी।

प्रीतिलता का जन्म १३ मई, १९६१ ई० में चटगाँव के गोयल पाड़ा नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता का नाम जगतबन्धु था, जो चटगाँव के जिला मजिस्ट्रेट के कार्यालय में प्रधान लिपिक के रूप में कार्यरत थे। उनकी माता का नाम 'प्रतिभामयी' था, जो एक साधारण-शिक्षा-प्राप्त दयालु प्रवृत्ति की धर्मप्राण महिला थीं। मध्यवर्गीय गरीब कायस्थ खानदान में उत्पन्न प्रीतिलता अपने माँ-बाप की एकमात्र सन्तान थी, इस कारण वे उसे बेहद प्यार-दुलार दिया करते थे। चटगाँव के हाई स्कूल से उसने अच्छे अंकों के साथ स्थान लेकर उन्होंने मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में उत्तीर्णता हासिल की। सन् १९३० ई० में ढाका के इन्टरमीडियट बोर्ड से आई० ए० की परीक्षा में वह समस्त लड़कियों के बीच अव्वल स्थान पाकर उत्तीर्ण हुईं। पढ़ाई-लिखाई में उसकी अभिरुचि देखकर पिता ने बी० ए० की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उसे कलकत्ता भेज दिया, जहाँ के बेथून कॉलेज में उसने दाखिला लिया। कलकत्ता जाने के पूर्व वह कल्याणी दास के नेतृत्व में चलनेवाली सामाजिक संस्था दीपाली संघ की सक्रिय सदस्या बन चुकी थी। कलकत्ता आने पर 'लीला' नाम की महिला की देखरेख में चलनेवाली 'छात्री संघ' नामक संस्था में वह जा जुड़ी थी। इन संघों से जुड़ाव के परिणाम-स्वरूप उसमें राजनैतिक चेतना जागृत होने लगी थी। इसके पूर्व-युगान्तर पार्टी-नामक एक क्रान्तिकारी पार्टी से उसका सम्पर्क हो चुका था। जिसका संचालन भूमिगत नेता निर्मल सेन किया करते थे। निर्मल सेन ने प्रीतिलता को मुक्केबाजी तथा राइफल और रिवाल्वर चलाने की कला सिखला दी थी। निर्मल सेन के सहारे ही वह महान् क्रान्तिकारी सूर्य सेन से सम्पर्क कर सकी थी। सूर्य सेन व्यवसाय से शिक्षक थे, इस कारण लोग

उन्हें 'मास्टर दा' के नाम से जानते थे। सूर्य सेन के क्रान्तिमूलक कारनामों से चटगाँव और उसके आस-पास के लोग न केवल सुपरिचित थे, बल्कि उनसे अच्छी तरह प्रभावित भी थे।

प्रीतिलता ऐसे महान् क्रान्तिकारी से परिचय की औपचारिकताओं तक ही अपने को सीमित रखना नहीं चाहती थी। वह उनसे घनिष्ठ रूप से जुड़कर उनकी विश्वासपात्रता हासिल करने की इच्छा रखती थी। उसकी अटूट आसक्ति देख मास्टर दा ने परीक्षा के तौर पर प्रीतिलता को एक जोखिम भरा काम उन दिनों सौंपा, जब वह कलकत्ता में शिक्षा ग्रहण कर रही थी।

मास्टर दा सूर्य सेन का एकविश्वस्त और जबर्दस्त क्रान्तिकारी साथी रामकृष्ण विश्वास दुर्भाग्यवश पुलिस की गिरफ्त में आ गया था। उसके ऊपर देशद्रोह का मुकदमा चला था और वह अलीपुर जेल में फाँसी की प्रतीक्षा कर रहा था। मास्टर दा ने प्रीतिलता को उसी रामकृष्ण विश्वास की नकली बहन बना कर जेल में उनसे मुलाकात करने का दायित्व सौंपा। प्रीतिलता उस जोखिम से भरी जिम्मेवारी का बखूबी निर्वाह करती गयी। वह विश्वास से अनेक बार उनकी बहन बनकर मिलती रही और सूर्य सेन के गुप्त संवाद उन तक पहुँचाती रही। विश्वास से हुए मुलाकातों के फलस्वरूप प्रीतिलता की क्रान्तिकारिता की भावना और भी प्रबल तथा सुदृढ़ हो सकी।

सन् १९३२ ई० में जून महीने की १३ तारीख को सावित्री देवी के घर में मास्टर दा की मन्त्रणा चल रही थी। शाम ढल चुकी थी। प्रीतिलता भी वहीं मौजूद थी कि कैमेरान नामक अंगरेजी कप्तान ने गोरखा सैनिकों का एक दस्ता लेकर उस मकान को घेर लिया। दरवाजा तोड़ कप्तान कैमेरान ने घर में प्रवेश किया और उसकी दूसरी मंजिल पर पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। जीने की चढ़ाई उसने पूरी भी नहीं की थी कि निर्मल सेन की गोली खा कैप्टन कैमेरान लाश बनकर जमीन पर जा गिरा।

गोरखा सैनिकों ने गोलियाँ चलानी शुरू की और निर्मल सेन वहीं शहीद हो गये। शेष तीन, जिनमें पुरुष-वेश में प्रीतिलता भी थी, घर से निकल अन्धेरे में चल ही रहे थे कि उनके पैरों के प्रहार से खड़खड़ाए सूखे पत्तों ने सैनिकों को उनकी ओर आकृष्ट किया और गोलियों की बौछार में अपूर्व सेन भी शहादत की चादर ओढ़ सदा के लिए सो गये। मास्टर दा और प्रीतिलता दोनों ही बच निकलने में कामयाब हो गये।

उसी वक्त पुरुषवेश-धारिणी प्रीतिलता अंगरेजों के लिए एक पहली बनकर उभर आयी। उसके हुलिए के आधार पर उसकी तेजी के साथ खोज पड़ताल की जाने लगी। अखबारों में उसका हुलिया दे कर इश्तहार छापा जाने लगा। कलकत्ता के दैनिक 'आनन्द बाजार' पत्रिका में इस तरह का जो इश्तहार उसके ३ जुलाई १९३२ के अंक में छपा था, उसका मजमून कुछ इस प्रकार था— "चटगाँव जिले के पाटया थानान्तर्गत धनघाट की प्रीतिलता पिछले दिनों चटगाँव शहर से लापता हो गयी है। उसकी उम्र बीस वर्ष की है। पुलिस को उसकी सूचना देनेवाले को मुहमांगा ईनाम दिया जायेगा।"

इश्तहार छपने के बाद प्रीतिलता के माँ बाप को पहली बार अपनी बेटी के क्रियाकलापों का पता चला। अपनी इकलौती होनहार और मेधाविनी बेटी द्वारा क्रान्ति की राह पकड़ लेने के कारण उन्हें अपार दुःख हुआ, मगर आन्तरिक हार्दिक सन्तोष की भी उन्हें अनुभूति हुई कि उनकी बेटी सबसे बड़ी माँ— भारत माता के उलझे आँचल को सुलझाने के काम में लग गयी है।

प्रीतिलता की खोज में उसके घर पर बराबर पुलिस के छापे पड़ने लगे। उसके कारण उसके माँ-बाप को नाहक ही परेशानी झेलनी पड़े, यह प्रीतिलता को गवारा नहीं था, अतएव देशसेवा की पूर्णकालिक सेविका के रूप में अपने को समर्पित कर देने के उद्देश्य से ५ जुलाई, १९३२ को अपनी नौकरी, अपने घर-द्वार और अपने माँ-बाप सबका परित्याग

कर अपने क्रान्ति-गुरु भारतीय सशस्त्र क्रान्ति के महानायक मास्टर दा सूर्य सेन की शरण में जा पहुँची और उनसे आग्रह करने लगी कि उसे क्रान्ति के किसी जोखिम भरे मोर्चे पर तैनात किया जाय। मास्टर दा प्रीतिलता के अटूट विश्वास और दृढ़ संकल्प से सुपरिचित थे। उसकी निडरता, निर्भयता, बहादुरी-बांकपन से आश्चर्य थे। उसके शौर्य को अपनी आँखों देख चुके थे। मगर उसके अल्प वय, पारिवारिक परिवेश, अमित सम्भावनाओं वाले उसके भविष्य तथा नवयुवती होने कारण उसकी कोमलता और मासूमियत देख मास्टर दा का कुलिश-कठोर हृदय भी भावुकतावश पानी-पानी हो गया। उन्हें उस नन्हीं-सी कली पर तरस आ गया और इधर प्रीतिलता का आग्रह उत्तरोत्तर प्रबल से प्रबलतर होता जा रहा था। उस नवयुवती की पूत महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए अन्ततः मास्टर दा द्रवित हो गये।

चटगाँव के पहाड़तली नामक स्थान पर अंगरेजों का एक यूरोपियन क्लब स्थित था, जहाँ हर रोज जलसे-जश्न मनाए जाते थे। भोंडें नाच-गाने और मदिरापान के पश्चात नशे में धुत होकर ऊँची-ऊँची आवाजों में भारतवासियों की शान के खिलाफ फतवे जारी करते थे। गोरी मेमों के साथ-साथ कुछ भारतीय नर्तकियों का बेशर्म नृत्य कराया जाना, उनके साथ खुले आम भद्दे मजाक, अश्लील हरकतें करना और कभी-कभी उनकी अस्मत्-आबरू से भी खेल लेना, उस क्लब की रात्रिवाली गतिविधियों में शामिल थे। आसपास के सम्भ्रान्त लोग उस क्लब में निर्लज्ज खेलों के कारण आक्रोशित थे। लोगों ने सूर्य सेन से उस तमाशा को बन्द कराने के लिए अनुरोध किया था। सूर्य सेन भी उस क्लब में चलनेवाले गर्हित व्यापार से काफी क्षुब्ध थे और उस क्लब को नष्ट कर देने के लिए स्वयं उत्सुक थे।

सन् १९३२ ई० के सितम्बर माह की चौबीस तारीख क्रान्तिकारियों द्वारा उस क्लब पर हमले के लिए तय हुई। प्रीतिलता को सैनिक वेश में पिस्तौल, बम, गोली-छर्रे और जहर की पुड़िया के रूप में

पोटासियम साइनाइड के कैप्सुलों से सजाया गया। उसे यूरोपियन क्लब और धावा बोल कर ब्रितानी शोहदे सैनिक अफसरों को समाप्त करने का जोखिम भरा काम सौंपा गया। प्रीतिलता आदेश देनेवाली कप्तान बनाई गयी और साहसी नवयुवकों-नवयुवतियों की एक क्रान्तिकारी सशस्त्र सैनिक टोली का कमान उसके हाथों सुपुर्द किया गया, जिसके प्रमुख थे—महेन्द्र चौधरी, सुशीला डे, प्रफुल्ल दास, अर्धेन्दु दस्तीदार, प्रभात बाल, मनोरंजन सेन, तारकेश्वर दस्तीदार, देवप्रसाद गुप्त, कृष्ण चौधरी इत्यादि लगभग पैसठ युवक और युवतियाँ।

रात के दस बजे थे। भावी आशंका से निर्द्वन्द्व, बेफिक्र, मौज-मस्ती के आलम में सराबोर थे। अकस्मात् क्लब के पीछे से गोलियों और बमों की वर्षा होने लगी। क्षण भर में जश्न मातम में बदल गया। ठहाकों ने चीखों का रूप ले लिया; क्लब की चार दीवारियों में घिरे गोरे सैनिक और अफसरान चौतरफा हमलों से अपनी रक्षा न कर सके। उसके जान-माल की क्षति हुई, हालांकि अपने लिखित और घोषित विवरण में उन लोगों ने दर्जन भर लोगों के घायल होने और एक महिला के मारे जाने की बात का ही उल्लेख किया।

प्रीतिलता के नेतृत्व में 'आपरेशन सफाया' पूरी तरह कामयाब रहा और उसमें लगे एक-एक क्रान्तिकारी साथी को जब तक क्लब से सुरक्षित बाहर नहीं निकाल लिया, प्रीतिलता मोर्चे पर अडिग अविचल चट्टान की तरह डटी रही। उसके एक क्रान्तिकारी युवक महेन्द्र चौधरी ने जब कहा "प्रीतिलता दी आज यहाँ क्यों खड़ी है; काम तमाम हो चुका है, जल्दी भाग चलिए यहाँ से" प्रीतिलता ने कप्तान की शैली में जबाब दिया— "यहाँ कोई दीदी-वीदी नहीं है। यहाँ सेना है, सैनिक है और कप्तान है। मैं प्रीति दीदी नहीं, मैं यहाँ कमाण्डर हूँ, कप्तान हूँ, मेरा हुक्म है—कम्पनी फौज इन, क्विक मार्च काम तमाम हो गया, अब जल्दी से कूच करो।"

क्लब की ओर से रक्षात्मक जबाबी कारवाई होनेवाली थी, मगर प्रीतिलता अपने मोर्चे से टस-से-मस नहीं हुई। उन्होंने पोटासियम साइनाइड के कैप्सुल को दाँतों से तोड़ा, उसे जिह्वा पर रखा, वन्दे मातरम् का मन-ही-मन उद्घोष करती हुई पिस्तौल बमों से सुसज्जित सैनिक के पुरुष वेश में ही वहीं लुढ़क गई।

अपने प्राण-न्योछावर के एक ही दिन पूर्व अपनी माताजी को लिखा उसका मार्मिक और प्रेरक पत्र पढ़कर अपनी प्यारी पुत्री-वियोग में उसकी माता रोती रही। उसकी वह चिट्ठी भी एक दर्द, वेदना और देश-प्रेम के सन्देशों से भरा ऐसा दस्तावेज है, जिसके मजमून सैकड़ों-हजारों युवक-युवतियों को देश की बलि-वेदी पर अपना सर्वस्व अर्पण कर देने का अभिनव सन्देश और प्रेरणा देते रहे हैं। उक्त एक्शन प्लान में लगे प्रीतिलता के शेष युवक-युवतियों में से अनेक को फाँसी से झुला दिया गया। कल्पना दत्त सहित अनेक को कालापानी और आजीवन कारावास की सजा सुनाई गयी और क्रान्ति के महानायक मास्टर दा सूर्य सेन को भी दो साल बाद १२ जनवरी, १९३४ ई० को फाँसी दे दी गयी।

इस प्रकार, एक प्रतिभासम्पन्न उदीयमान देश की अप्रतिम युवती-प्रतिभा बलिदान की वेदी पर चढ़कर इतिहास के पन्नों के लिए अपना पवित्र नाम सुरक्षित छोड़ गयी।

प्रीतिलता सांवले वर्ण और छरहरे रूप-बदन वाली सामान्य रूप-लावण्य से युक्त आकर्षक और सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमा-सी दिख पड़ती थी। अन्तर में देशभक्ति की ज्वाला के कारण असाधारण रूप से वह आकर्षक दीख पड़ती थी। स्वदेश प्रेम की प्रभोज्ज्वल आभा से दीपित उसके मुख-मण्डल पर सदैव अलौकिक तेजस्विता विराजमान रहा करती थी।

विशेष कार्य पदाधिकारी,
बिहार राज्य स० भूमि विकास बैंक,
बुद्ध मार्ग, पटना-८०० ००४



मिथिला में १६वीं शती में चन्द्रपति ठाकुर नामक एक विद्वान् हुए। उनके तृतीय पुत्र महामहोपाध्याय दामोदर ठाकुर थे। वे प्रायः 'वस्तर' (मध्य-प्रदेश) के महाराज संग्राम सिंह के राजपुरोहित थे। उन्होंने विवेकदीपक, षोडशमहादान-पद्धति एवं दिव्यदीपिका— इन तीन ग्रन्थों की रचना की थी। इनके अनुज म० म० महेश ठाकुर थे। महेश ठाकुर ने म० म० पक्षधर मिश्र के शिष्य शुचिकर झा से शिक्षा पायी तथा 'भौर' ग्राम में चौपाड़ि (चतुष्पीठिका) चलाकर शिष्यों को पढ़ाने लगे। इनके शिष्यों में रघुनन्दन झा अत्यन्त मेधावी थे, अतः गुरु का सबसे अधिक स्नेह उनपर रहा।

महेश ठाकुर के मन में बहुत दिनों से दिल्ली जाने की इच्छा हो रही थी। एकवार वे वस्तर में भाई के पास से दिल्ली के लिए रघुनन्दन के साथ चल पड़े। 'मडिला' प्रदेश के जंगल से होकर उन्हें गुजरना था। महेश ठाकुर प्रतिदिन पूजा के समय वाल्मीकीय रामायण का पाठ करते थे। उनके इस पाठ के समय एक वानर प्रतिदिन सामने आकर बैठ जाया करता। एक रात उन्होंने स्वप्न में देखा कि वही वानर उन्हें कह रहा है कि तुम दिल्ली जाओ; मिथिला का राज्य प्राप्त करोगे। महेश ठाकुर इसे साक्षात् हनुमानजी की आज्ञा समझकर दूने उत्साह से चल पड़े।

दिल्ली पहुँचकर उन्होंने राजा मानसिंह से भेंट की। बाद में सम्राट् अकबर से भी भेंट हुई। अपनी वाक्पटुता और कवित्व-शक्ति से उन्होंने सबको मुग्ध कर दिया। सम्राट् ने उन्हें मिथिला का राज्य प्रदान किया।

महेश ठाकुर ने अपनी राजधानी 'भौर' (मधुवनी जिला मुख्यालय से लगभग १० की० मी० दक्षिण-पूर्व में स्थित) में स्थापित कर राज्य चलाने लगे। इस कार्य में उन्हें कई छोटे-छोटे जमीन्दारों के विरोध का सामना करना पड़ा। इनके सोदर भाई भी इस 'क्षत्रियवृत्ति' के कारण इनसे कटने लगे। अन्ततः इन्होंने भी तंग आकर सम्राट् अकबर को राज्य लौटा दिया और 'वस्तर' में अपने अग्रज के पास रघुनन्दन के साथ चल पड़े। वहाँ पहुँचकर राजदरवार में सभापण्डित के पद पर नियुक्त हुए।

एक दिन महेश ठाकुर अस्वस्थ हो गये, अतः अन्तःपुर में राजमाता को पुराण सुनाने के लिए उन्होंने रघुनन्दन को भेजा। रघुनन्दन युवक थे; अन्तःपुर का वैभव और सुन्दरी दासियों को देखकर उनके होठों पर मुस्कुराहट फैल गयी। राजमाता के मुँह से ठाकुरजी को जब यह खबर मिली तब उन्होंने रघुनन्दन को डाँट दिया। इसे रघुनन्दन ने अपने चरित्र पर प्रश्नचिह्न माना और खिन्न होकर दिल्ली चल पड़े। इनकी विद्वत्ता से भी सम्राट् अकबर ने प्रसन्न होकर इन्हें मिथिला का राज्य देते हुए कहा—'आपके गुरु को मैंने जो दिया, उसे उन्होंने वापस कर दिया है। इस राज्य को अब आप ग्रहण करें।' शिष्य रघुनन्दन ने कहा कि गुरु के द्वारा भोग की गयी राज्यलक्ष्मी का ग्रहण 'गुरुपत्नी-गमन' सदृश महापाप है। अतः मेरे गुरु के नाम से ही राज्य का सनद जारी किया जाए। इस वार मैं उनसे पुनर्ग्रहण करवा लूँगा। मुझे तो वस हाथी का हलका और कुछ शाही फौज की आवश्यकता है, जिससे मार्ग में असुविधा न हो।

सम्राट् अकबर परम प्रसन्न हुए। रघुनन्दन को उन्होंने 'पण्डितराज' की उपाधि प्रदान की तथा महेश ठाकुर के नाम मिथिला राज्य का पुनः सनद देकर हाथियों तथा शाही फौजों की एक टुकड़ी के साथ विदा किया। रघुनन्दन सर्वप्रथम वस्तर पहुँचे, जहाँ उन्हें अपने अपमान का बदला लेना था। शाही फौज ने आदेश पाकर वहाँ के राजा को कैद कर लिया। अपने शिष्य रघुनन्दन के इस व्यवहार पर महेश ठाकुर को क्षोभ हुआ और वे अपने शिष्य से मिलने चल पड़े। गुरु के आदेश से मामला शान्त हुआ। रघुनन्दन ने अकबर का दिया हुआ सनद अपने गुरु के पैरों पर रख दिया। गुरु अपने शिष्य को राज्य ग्रहण करने के लिए कहने लगे, तो शिष्य गुरु से राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना करते रहे। अन्त में शिष्य की विजय हुई। महेश ठाकुर राज्य स्वीकार कर मिथिला के लिए चल पड़े। रघुनन्दन स्वयं नागपुर के समीप किसी राजधानी में रहने लगे।

इस प्रकार, विद्यावतल से उपार्जित मिथिला के सिंहासन पर खण्डवला-कुल के प्रथम राजा म० म० महेश ठाकुर १५५६ ई० में बैठे। म० म० महेश ठाकुर के लिखे गये ग्रन्थ हैं— नव्यन्याय-ग्रन्थ तत्त्वचिन्तामणि की 'आलोक दर्पण' टीका, दायसार, तिथितत्त्वचिन्तामणि, अतीचारादि निर्णय, जानकीपंचकस्तोत्र आदि।

(म० म० परमेश्वर झा कृत 'मिथिलातत्त्वविमर्श' ग्रन्थ के आधार पर।)

असुर-संहार की कारणभूत सीता

डॉ शिववंश पाण्डेय

“रामकाव्य की सुरसरिता आदिकवि की लेखनी-गंगोत्तरी से निकल कर अत्यंत प्राचीनकाल से अब तक निरन्तर प्रवाहित होती जा रही है। युगीन परिस्थितियों की वायु के प्रबल वेग से जल में अनेक बार आलोड़न- विलोड़न हुए, उसके

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(श्रीमद्भगवद्गीता : ४। ७-८)

[शाक्त-साहित्य की मूल अवधारणा है कि एक ही आद्याशक्ति प्रथमतः तीन रूपों में प्रकट हुई है। अतः इनके तीन ध्यान हैं- सृष्टि-ध्यान, स्थिति-ध्यान एवं संहार-ध्यान। फलतः महासरस्वती, महालक्ष्मी एवं महाकाली में पार्थक्य केवल ध्यान की भिन्नता के स्तर पर है। एक ही शक्ति कहीं पर सृष्टि-ध्यान के स्वरूप में वर्णित है, तो कहीं संहार-ध्यान के रूप में। श्रीराम की आद्याशक्ति सीता का चरित संहार-ध्यान के स्वरूप में भी कुछ रामकथाओं में वर्णित है, जहाँ वह महाकाली से अभिन्न बन जाती है। इस चरित का विवेचन यहाँ प्रस्तुत है-
-सं०]

प्रवाह की गति परिवर्तित हुई, किन्तु उसके जल की पावनता में किंचित् भी अन्तर नहीं आया। आदिकवि ने काव्य के आलम्बन रूप में ऐतिहासिक महापुरुष मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम एवं उनकी अर्द्धांगिनी सीता को स्वीकार किया और उनके महिमामय चरित्र का अंकन किया। परवर्ती युग में उनके चरित्र को समस्त गुणों का आश्रय-स्थल पाकर मानव के आस्तिक मन ने अवतार की कल्पना की और उन्हें सृष्टि के रचयिता परब्रह्म एवं विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकृत किया, उसी के अनुरूप उनकी जीवन-संगिनी सीता को भी अलौकिक रूप प्रदान किया, जिन्हें काव्य का प्रतिपाद्य विषय मानकर हमारा सम्पूर्ण रामभक्ति-साहित्य पल्लवित-पुष्पित होता चला आ रहा है।”

जब-जब अधर्म की वृद्धि हुई, धर्म का नाश हुआ तब-तब भगवान् ने अवतार लेकर अधर्म का विनाश और असुरों का संहार किया-

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी ‘रामचरितमानस’ में इसी सिद्धान्त की स्थापना करते हुए लिखा है-

जब जब होई धरम कै हानी।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी।
सीदहिं विप्र धेनु सुरघरनी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

(रामचरितमानस : १२०।७-८)

रामावतार का भी प्रयोजन असुरों का संहार कर धर्म की स्थापना ही था। रावण, अहिरावण, खर, दूषण, त्रिशिरा और बाली जैसे असुरों का अत्याचार पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। धर्म की रक्षा के लिए इनका विनाश अनिवार्य था। इनके विनाश के कारण रूप में सीता का वर्णन रामकाव्यों में देखने को मिलता है।

‘प्राचीन काल से शौर्यपूर्ण कृत्य करने के कारण नारी को दुर्गा का प्रतीक माना जाता रहा है। वेदों में रुद्र-पत्नी अम्बिका के वीर-रूप की की गयी है। पुराणों में राधा को आदिमाता, सृष्टि की रचयित्री कहा गया है। दुर्गा, प्रकृति, गणेश जननी, शिव प्रिया, नारायणी और विष्णुमाया आदि नामों से अभिहित हुई है। इसी प्रकार दुर्गा और सीता के तादात्म्य तथा उनके द्वारा दुष्ट राक्षसों (असुरों) के संहार की कल्पना भी पुरानी है। कौशिक-सूत्र में कृषि की अधिष्ठात्री देवी सीता की वन्दना हुई है—
**कालनेत्रे हविषा नो जुषस्व तृप्तिं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ।
 याभिर्देवा आसुराकल्पयन् धातून्मनूनान्धर्वान् राक्षसांश्च ।
 ताभिर्नो अद्य सुमना उपगहि सहस्रापोषं सुभगेराणाम् ।
 हिरण्यस्रक्पुष्करिणी श्यामा सर्वांगशोभिनी ।**

इस वन्दना में ऋग्वेदोक्त वाक् अथवा अदिति तथा दुर्गासप्तशती के देवी-वर्णन आदि का समन्वय किया गया है। कहा गया है कि अदिति रूप में आकाश, वाक् रूप से अन्तरिक्ष तथा सीता, काली अथवा दुर्गा रूप से पृथ्वी पर रहनेवाली देवी क्रमशः आकाश, पृथ्वी अथवा निखिल विश्व की मातृशक्ति है, जिनसे उद्भिद्, चतुष्पद और द्विपद जीवों की उत्पत्ति होती है और जो अपनी सन्तान की रक्षा के लिए हिंसक शक्तियों का दमन अथवा असुरों का संहार करती है।

पद्म-पुराण में महादेव अग्नि-परीक्षा के समय श्रीराम से सीता को स्वीकार करने की प्रार्थना करते हुए उन्हें राम का अभिन्न अंग, दुष्ट-विनाशिनी देवी, महाकाली और महागौरी कहते हैं। यहाँ सीता को गौरी और भगवान् राम को शिव कहकर सीता और दुर्गा का तादात्म्य स्थापित किया गया है। भक्तिकालीन और आधुनिक रामकाव्यों में गौरी और सीता का अभिन्नत्व अनेक प्रकार से वर्णित किया गया है। यह भी कहा गया है कि सीता से रमा, उमा, ब्रह्मणी आदि की उत्पत्ति हुई है तथा स्वयंवर के पूर्व सीता द्वारा धनुष उठाते समय उनमें सुनयना एवं उर्मिला को रम्भा और उमा के रूप का दर्शन हुआ था।

गिरिजा भी सीता की वन्दना करती हैं; क्योंकि गिरिजा सीता की ही शक्ति हैं। सीता सब कुछ करने में समर्थ हैं, किन्तु गौरी (गिरिजा) का महत्त्व बढ़ाने के लिए स्वामिनी सीता उनकी प्रार्थना कर वर की याचना करती हैं। गिरिजा-पूजन के समय सीता द्वारा गिरिजा की जिन विभूतियों का गान किया गया है, वे समस्त विभूतियाँ सीता की ही हैं। एक स्थल पर राम गौरी की वन्दना करते हुए उनके जिस रूप का वर्णन करते हैं, वह सीता और उमा के रूप में पूर्ण तादात्म्य स्थापित करनेवाला ही रूप है। उनके इस रूप का सीधा सम्बन्ध दुर्गासप्तशती में वर्णित देवी तथा शाक्त-मत की सर्वदेव-नमस्कृता शक्ति से स्थापित हो जाता है। किन्तु जिन कथा-प्रसंगों के आधार पर उन्हें दुर्गा कहा गया है, वह ‘अद्भुत रामायण’ तथा ‘सीतोपनिषद्’ में वर्णित कथा से मिलता-जुलता है।

‘अद्भुत रामायण’ में सीता दुर्गा का रूप धारण कर पुष्कर-द्वीप-निवासी सहस्रमुख रावण का वध करती हैं। कहीं-कहीं यह भी दिखाया गया है कि ‘देवी-भागवत’ अथवा ‘दुर्गा-सप्तशती’ में वर्णित देवी ने नहीं, अपितु सीता ने दुर्गा के रूप में कराल रूप धारण कर शुम्भ-निशुम्भ आदि असुरों का संहार किया था। सीता के दुर्गा रूप का प्रतिपादन करनेवाले ‘सीताराम चरितायन’, लालदास कृत ‘अद्भुत रामायण’, लक्ष्मणदास कृत रामायण, ‘रामविजय’, एवं ‘जानकी पंचासिका’ आदि ग्रन्थों में हुआ है, जिनमें वह सहस्रमुख अथवा महिषासुर आदि असुरों का संहार करती हैं और दूसरा उनका सौम्य रूप है, जिसमें वे राम की शक्ति और भक्तों की जननी रूप में चित्रित हैं।

सीता के असुर संहारकारी रूप का प्रकटीकरण उस समय होता है, जब रावण वध के पश्चात् मुनियों द्वारा इस सन्दर्भ में राम की स्तुति सुनकर सीता उपेक्षा से हँसती है। हँसने का कारण पृष्ठे जाने पर सीता रावण से भी अधिक शक्तिशाली, अत्याचारी पुष्करद्वीप निवासी सहस्रमुख रावण की

उपस्थिति का वर्णन करती हुई बताती हैं कि— 'राम अभी तक उस राक्षस को नहीं मार सके हैं, जिसकी कथा बाल्यावस्था में मिथिला में एक अतिथि ब्राह्मण ने सुनाई थी।' उस विवरण को सुनते ही विशालवाहिनी के साथ राम उस सहस्रमुख रावण पर आक्रमण करते हैं तथा उसके साथ भयंकर युद्ध में पराजित होते हैं, उनकी सारी सेना रावण के तीक्ष्ण बाण से उड़कर दूर जा गिरती हैं, वे स्वयं मूर्च्छित होकर गिर जाते हैं। उस समय सीता मुनियों को हास्यमुखी दिखती हैं, जिससे वे उपालम्भ देते हैं कि उन्हें राम की मूर्च्छा से किसी प्रकार भी दुःख नहीं है।

किसी काव्य में इनके स्थान पर राम की मूर्च्छा देखकर हाहाकार करते हुए मुनि उन्हें दोष देते हैं कि उन्होंने राम को ऐसी कथा क्यों सुनाई, जिससे सबको यह कष्ट भोगना पड़ा। 'अद्भुत रामायण' के अनुसार सहस्रमुख रावण के समक्ष राम हततेज होकर सीता से अपने प्रभाव को प्रकट करने के लिए कहते हैं। उनके अनुरोध करने पर सीता अपना सौम्य रूप त्याग कर उच्च स्वर में अट्टहास करती हुई करालाकृति होकर रणक्षेत्र में शत्रु-सेना का संहार करने लगती हैं—

रण भू असुरहिं गर्जत वाणी।
अट्टहास करि उठी भवानी।।
सुनि रव कम्प उठा ब्रह्मण्ड।
चक्रित चिवय सब असुर प्रचण्ड।।
मानहु सुनि गर्जत मृगराजू।
अति समीत गजराज समान्।।
वैदेही निज रूप दुराई।
महा कराल वेष प्रगटाई।।
लम्बित नख पर जंघ विशाल।
चारभुजा गर मुण्डनमाला।।
रसना नैन वदन विकराल।
प्रति निश्वासु मनु निक्सव ग्वाला।।
सोहे जटाजूट सिर घाटा।
हाथ न खप्पर खड्ग कठोरा।।

धारा पाश शक्ति अधिकाई।

कालदण्ड जासो भय पाई।।

महाक्रोध तन तान पुष्पक सो अति शीघ्र गति।

टूटी ग्रहिनी जाय, प्रबल शत्रु रथ पर पड़ी।।

(लक्ष्मणदास : अद्भुत रामायण : अ० २५)

उनके इस रूप का साम्य चण्ड, मुण्ड, शुम्भ, निशुम्भ एवं महिषासुरादि राक्षसों का मर्दन करनेवाली, शिव की अभिन्न-रूपा सहचरी देवी कालिका से स्थापित किया जा सकता है। जब वह असुरों का वध करने को उद्यत होती है, तब अनेक मातृकाएँ उत्पन्न होकर उनकी सहायता करती हैं। जिस प्रकार देवी चण्ड-मुण्ड आदि का वध करते समय उसकी आज्ञा से अपने शरीर से उत्पन्न कालिका रक्तबीजक के शरीर से गिरनेवाली रक्त की बूंदों से उत्पन्न करने वाले रक्त-विन्दुओं को चाट जाती हैं। रावण (कहीं अहिरावण) के वध पश्चात् भी जब सीता रणक्षेत्र में भयंकर नृत्य करती रहती हैं, तो समस्त पृथ्वी कंपित हो जाती है। उस समय पृथ्वी पर प्रलय को रोकने के लिए महादेव का आह्वान किया जाता है कि वे सीता का रोक दें। शिव आकर शव की भाँति उनके पद-तलों के नीचे स्थित हो जाते हैं और पृथ्वी स्थिर हो जाती है—

शिव इव सिय पग तल आवा।

रसा रसातल जात बचावा।।

अपर लोक सीता निश्वास।

पतन चहे उपजा उर वासा।।

सीता देवताओं को इस महाविनाश का कारण अपना वैधव्य बताती है। वह तब शान्त होती है, जब ब्रह्मा अपने स्पर्श से राम को जीवन प्रदान करते हैं।

'जानकी पंचासिका' में जानकी को शक्ति रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए कहा गया है कि जगदम्बा जानकी ने ही दुर्गा वेश धारण कर चण्ड-मुण्ड आदि राक्षसों को मारा था। जितने भी महत् कार्य राम के किये कहे जाते हैं, वे सब सीता द्वारा ही सम्पादित हैं। सीता ने ही अवधपुर में जन्म लिया; गांधि-सुत विश्वामित्र की रक्षा की। मुनि-पत्नी के शाप का निवारण कर उसका उद्धार किया। महेश के चाप का खण्डन तथा परशुराम के मद को

भग्न किया। १२ वर्ष तक अवध में वही सुशोभित हुई, उन्होंने ही दण्डकारण्य में विराध का वध किया। गृध्रराज जटायु को मोक्ष दिया। कबन्ध की सुगति, बाली का वध तथा सुग्रीव पर कृपा उन्होंने ही की। रावण को मारकर स्वधाम पहुँचाना भी उनका ही काम था। विभीषण को नृपति बनाकर यशोमण्डित करना भी उन्हीं का कार्य था। ऐसी मोद-प्रदायिनी जानकी जगद्वन्दनीया हैं (जानकी पंचासिका : ४०-४३)।

‘देवी-भागवत-पुराण’ में राक्षसों के वध के उपरान्त तथा पूर्व जिस रूप में देवी की स्तुति की गयी है, उसी रूप में अहिरावण-वध के उपरान्त राम तथा अन्य देवता सीता का गुणगान करते हैं। राम भी सीता की शक्ति और गुणों के समक्ष नत हैं तथा अष्टोत्तर सहस्रनाम नाम से उनका स्तवन करते हैं। वे उन्हें समस्त विश्व की एकमात्र वन्दिता शक्ति के रूप में देखते हैं तथा विश्व को संचालित करने की शक्ति भी उन्हीं में मानते हैं; क्योंकि समस्त देवताओं की एकमात्र शासिका वही हैं। प्रधान पुरुष ब्रह्मा, ईश्वर, अविद्या नियति, माया और काल आदि उन्हीं से उत्पन्न होते हैं। वही अनन्त परमेश्वर परम-शक्ति हैं। वे सब भेदों से निर्मुक्त एवं सब भेदों के आश्रयवादी निज-स्वरूपा हैं। निरुपाधि एवं गुणरहित होते हुए भी सीता अवतारी हैं। धर्म की हानि होने पर प्रकृति सीता के रूप में अवतार लेती है। चर और अचर इन्हीं की कृपा से प्रकाश में आते हैं।

जगज्जननी सीता की महिमा का गुणगान करते हुए कहा गया है—

जै जै जगपावनी सीय सती।
जै सृष्टि उपावनि शरण गती।।
तुम्हरे बल तेज तपे तरणी।
तुम्हरे बल शेष धरे धरणी।।
तुम्हरे बल सिन्धु प्रवाह बहै।
तुम्हरे बल पवन सुतेज बहै।।
तव तेज विराजत कोटि कला।
रजनीचर को बल नाहि चला।।
तब माया नर भवकूप परै।
सुविषय मद मोह शरीर जदै।।

तुममय संसार सबै यह है।
तुम्हरे बल विश्व विमोहि रहे।।
जननी जग पालनि हो तुम ही।
भव सिन्धु अधार कहै सब ही।।

सरस्वती, लक्ष्मी, शची, शेष, वेद एवं शिव उनके सौन्दर्य एवं गुणों का गान करने का प्रयत्न करते हैं, फिर भी उनकी महिमा का वर्णन करते हुए भी नहीं कर पाते (जानकी पंचासिका)।

‘रामपूर्वतापिन्युपनिषद्’ में सीता को राम की प्रकृति और आह्लादिनी शक्ति कहा गया है। वे ही राम की वह शक्ति हैं, जिससे जगत् की सृष्टि होती है। वे मूल प्रकृति स्वरूपा परमेश्वरी शक्ति हैं, जिससे सम्पूर्ण जगत् सूक्ष्म रूप से प्रलय की अवस्था में विलीन हो जाता है।

रामभक्ति से सम्बन्धित द्वितीय महत्त्वपूर्ण उपनिषद् रामोत्तरतापनीय में सीता को जगदानन्ददायिनी, सब शरीरों की उत्पत्ति, स्थिति और संहारकारिणी मूल प्रकृति कहा गया है—

श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम्।।
सा सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिका।
प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः।।

(रामोत्तर उपनिषद् : ३-४)

इस प्रकार, स्पष्ट है कि राम के रूप में उनकी संहारकारिणी मूल प्रकृति सीता ने ही असुरों का वध (संहार) किया था या उनके संहार का कारण बनी थी। वे समस्त शक्तियों की स्वामिनी हैं। उनके भ्रुकुटी-विलास से विश्व की स्थिति, पालन और संहार होता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव उनके इन त्रिगुणों को धारण कर ही समस्त कार्य करते हैं। राम न तो अकेले सृष्टि करने और न संहार करने में ही समर्थ हैं। उन्हें इन सभी कार्यों में सीता की आवश्यकता होती है। अतः प्रत्यक्षतः राम द्वारा जो असुरों के संहार किये गये, उसकी कारणभूत भी सीता रही है।

लीलाधाम,
३ / ३०७, न्यू पाटलिपुत्र कॉलोनी,
पटना-८०० ०१३





प्लवगपुंगव हनुमान्

जयकान्त मिश्र

अवतारों के मूल उद्देश्य के सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।

अर्थात् साधु-सन्तों की रक्षा के लिए, दुष्टों को नष्ट करने के लिए तथा धर्म की स्थापना के लिए, मैं युग-युग में अवतरित होता हूँ। भगवान् श्रीराम ने समाज और राष्ट्र को सुव्यवस्थित करने के लिए जो धर्मसम्मत व्यवस्था दी थी, वह आज तक अक्षुण्ण है। राजा और प्रजा का सम्बन्ध कैसा हो, पिता-पुत्र, भाई-भाई, सेवक-स्वामी, माता-पिता, पति-पत्नी आदि का आदर्श सम्बन्ध कैसा हो, इसकी व्यवस्था उन्होंने दी। अपने आचार और विचार से आदर्श समाज का रूप-निर्धारण किया। इन व्यवस्थाओं के फलस्वरूप जनप्रतिनिधियों ने

उन्हें मर्यादापुरुषोत्तम की उपाधि से विभूषित किया। किन्तु भगवान् श्रीराम ने इतना ही नहीं किया, रावण रूप आसुरी-वृत्ति को विनष्ट कर दैवी-वृत्ति की स्थापना भी की। उनके इस महान् कार्य में महापराक्रमी हनुमान् का जो महान् सहयोग मिला उसकी सर्वथा प्रशंसा होती रही है और होती रहेगी।

इस कथन पर कोई विरोध नहीं कि हनुमान् के इस सहयोग के अभाव में श्रीराम का यह दुष्कर कार्य पूर्ण होने में कठिन होता। यदि हनुमान् बुद्धिमानों में वरिष्ठ नहीं होते और दूर की छलांग लगाने में समर्थ नहीं होते तो भगवती सीता का पता पाना और सागर पार लंका में वानरी-वाहिनी के साथ श्रीराम का पहुँच पाना बहुत ही कठिन होता। हनुमान् की अमोघ शक्ति की प्रशंसा भगवान् श्रीराम ने, जगज्जननी सीता ने तथा अन्य वरिष्ठ पात्रों ने की है।

विभिन्न पौराणिक प्रसंग के विवरण में हनुमान् में अमित शारीरिक शक्ति, अमित तेज तथा अन्य विशिष्ट गुण पाये जाते हैं। अपने राज्याभिषेक के

[छलांग लगाने के अर्थ में 'प्लु' धातु से निष्पन्न 'प्लव' शब्द है। इसमें जाने के अर्थ में प्रयुक्त 'गम्' धातु जोड़ने पर प्लवग, प्लवंग, प्लवंगम ये तीन शब्द बनते हैं, जिनका शाब्दिक अर्थ होता है— तैरकर जानेवाला। हलाँकि यह शब्द बन्दर या लंगूर के अर्थ में बहुधा व्यवहृत हुआ है, किन्तु यहाँ लेखक ने हनुमान् की प्लवनशक्ति (समुद्र के ऊपर से छलांग लगाने की शक्ति) के कारण उन्हें प्लवगपुंगव कहा है।

प्लवगपुंगव हनुमान् के गुणों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।
—सं०]

समय भगवान् श्रीराम ने सीताजी को उपहार में एक बहुमूल्य हार दिया था, किन्तु जगन्माता ने भगवान् श्रीराम की स्वीकृति पाकर हनुमान्

को वह हार दे दिया। महर्षि वाल्मीकि ने उस समय के विवरण में कहा है—

अवेक्षमाणा वैदेही प्रददौ वायुसूनवे।

अवमुच्यात्मनः कण्ठाहारं जनकनन्दिनी।।

अवैक्षत हरीन् सर्वान् भर्तारं च महर्मुहुः।

तामिङ्गितज्ञः सम्प्रेक्ष्य बभाषे जनकात्मजाम्।।

प्रदेहि सुभगे हारं यस्य तुष्टासि भामिनि ।
अथ सा वायुपुत्राय तं हारमसितेक्षणा ।।
तेजो धृतिर्यशो दाक्ष्यं सामर्थ्यं विनयो नयः ।
पौरुषं विक्रमो बुद्धिर्यस्मिन्नेतानि नित्यशः ।।

अर्थात् राज्याभिषेक के अवसर पर भगवान् श्रीराम ने पत्नी वैदेही को वायुप्रदत्त अमूल्य हार दिया और जनकनन्दिनी ने पति की ओर देखकर वायुपुत्र हनुमान् को वह भेंट देने का मन बना लिया। वह गले के हार को हाथ में लेकर समस्त वानरों की ओर बार-बार देखने लगी। उनकी इस चेष्टा को समझकर रामचन्द्रजी ने जानकीजी की ओर देखकर कहा— “सौभाग्यशालिनी भामिनी! तुम जिसपर सन्तुष्ट हो, उसे यह हार दे दो।” तब माता सीता ने वायुपुत्र हनुमान् को वह हार दे दिया जिसमें तेज, धृति, यश, चतुरता, शक्ति, विनय, नीति, पुरुषार्थ, पराक्रम, उत्तम बुद्धि— ये सद्गुण सदैव विद्यमान रहते हैं, वह हार दे दिया।

महर्षि वाल्मिकि ने इस विवरण में हनुमान् के ऐसे अनेक गुणों का वर्णन किया है, जो एक साथ किसी में होना दुर्लभ है।

भगवान् श्रीराम ने तो उन्हें महान् भाषाविद् और व्याकरण का निष्णात विद्वान् बताया है। जब प्लवगेश्वर (वानरराज) सुग्रीव ने यह पता लगाने के लिए, कि ये दोनों युवक (राम और लक्ष्मण) कौन हैं, हनुमान् को उनसे मिलने के लिए भेजा, उस समय हनुमान् की बातों से अत्यन्त प्रभावित होकर श्रीराम ने लक्ष्मण से कहा था—

तमभ्यभाष सौमित्रे सुग्रीवसचिवं कपिम् ।
वाक्यज्ञं मधुरैर्वाक्यैः स्नेहयुक्तमरिन्दमम् ।।
नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेव विभाषितुम् ।।
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम् ।।
न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा ।
अन्येस्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित् ।।

अविस्तरमसन्दिग्धमविलम्बितमव्यथम् ।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम् ।।
संस्कारक्रमसम्पन्नमद्भुतामविलम्बिताम् ।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम् ।।
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया ।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ।।

अर्थात् लक्ष्मण! शत्रुदमन सुग्रीव के सचिव कपिवर हनुमान् से, जो बात के मर्म को समझनेवाले हैं, तुम स्नेहपूर्वक मीठी वाणी में बात करो। जिसे ऋग्वेद की शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेद का अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेद का विद्वान् नहीं है, वह इस प्रकार सुन्दर भाषा में वार्तालाप नहीं कर सकता। निश्चय ही इन्होंने समस्त व्याकरण का कई बार स्वाध्याय किया है; क्योंकि बहुत बातें बोलने पर भी इनके मुँह से कोई अशुद्धि नहीं निकली। सम्भाषण के समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंह तथा शरीर के किसी अंग से कोई दोष प्रकट हुआ हो, ऐसा कहीं ज्ञात नहीं हुआ। इन्होंने थोड़े में ही बहुत स्पष्टता से अपना अभिप्राय निवेदित किया है। उसे समझने में कहीं कोई सन्देह नहीं हुआ है। रुक-रुक कर या शब्दों और अक्षरों को तोड़-मरोड़ कर किसी ऐसे वाक्य का उच्चारण नहीं किया है, जो कर्णकटु हो। इनकी वाणी हृदय में मध्यम रूप में स्थित है और कण्ठ से बैखरी रूप में प्रकट होती है, अतः बोलते समय इनका स्वर न बहुत धीमा रहा है न बहुत ऊँचा। इन्होंने सभी बातें मध्यम स्वर में ही कही हैं। ये संस्कार (व्याकरणानुसार शुद्ध वाणी) और क्रम (शब्दोच्चारण की शास्त्रीय परिपाटी) से सम्पन्न, अद्भुत, अविलम्बित (धाराप्रवाह बोलना अविलम्बित कहलाता है) तथा हृदय को आनन्द प्रदान करने वाली कल्याणमयी वाणी का उच्चारण करते हैं।

विदुषी भगवती सीता भी हनुमान् की प्रशंसा में भगवान् श्रीराम से पीछे नहीं। जब लंका के युद्ध में रावण मारा गया और श्रीराम के आदेश से

हनुमान् ने सीताजी के पास पहुँचकर उन्हें विजय का संवाद सुनाया उस समय हर्ष में भरकर सीता ने कहा—

अतिलक्षणसम्पन्नमाधुर्यगुणभूषणाम् ।

बुद्ध्या ह्यष्टांगया युक्तां त्वमेवार्हर्षि भाषितुम् ।।

अर्थात्, हनुमान् तुम्हारी वाणी उत्तम लक्षणों से सम्पन्न, माधुर्यगुण से विभूषित तथा बुद्धि के आठ अंगों (गुणों) से अलंकृत है। ऐसी वाणी तुम्हीं बोल सकते हो।

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।

ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीर्गुणाः ।।

अर्थात् सुनने की इच्छा, सुनना, ग्रहण करना, स्मरण रखना, ऊह (तर्क-वितर्क), अपोह (सिद्धान्त का निश्चय) अर्थ का ज्ञान होना तथा तत्त्व को समझना— ये बुद्धि के आठ गुण हैं।

जाम्बवान् आदि ने भी हनुमान् के सम्बन्ध में प्रशंसा की ऐसी ही बातें कही हैं। नीतिवाक्य है—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा

सदसि वाक्यपटुता युधि विक्रमः ।

यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ

प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ।।

अर्थात्, विपत्ति में धैर्य, अभ्युदय की अवस्था में क्षमाशीलता, सभा में वाक्चातुर्य, युद्ध में विक्रम का प्रदर्शन, यश में रुचि और श्रुति आदि के पठन-पाठन का व्यसन— ये महापुरुषों के प्रकृतिसिद्ध गुण हैं। हनुमान् में महात्माओं के ये सभी गुण विशेष सबसे मिलते हैं।

हनुमान् के जिन गुणों का वर्णन ऊपर किया गया है, उनकी तुलना किसी और के इन गुणों से नहीं की जा सकती। भगवान् श्रीराम के प्रति उनकी भक्ति की तुलना भगवान् विष्णु के प्रति प्रह्लाद की और श्रीकृष्ण के प्रति राधा की भक्ति से ही की जा सकती है।

हनुमान् भगवती सीता का पता लगाने के लिए लंका जाकर और वहाँ से वापस आकर अपनी

प्लवनशक्ति (छलाँग लगाने की शक्ति) का जो परिचय दिया, वह आश्चर्यजनक तो है ही, पूरी तरह रहस्यमय लंका में अपश्या जनकनन्दिनी को खोज निकालना तथा अपने को उनके समक्ष विश्वसनीय सिद्ध करना उनकी कुशाग्र-बुद्धि का परिचायक है। उन्होंने रावण की सैन्य-शक्ति प्रायः आधी से अधिक नष्ट कर और लंका को विध्वंस के कगार पर ला खड़ा कर पवनपुत्र होने की सार्थकता सिद्ध की और स्वेच्छा से ब्रह्मास्त्र के बन्धन में आकर रावण के सम्मुख होने और उसे अपने क्रिया-कलाप को सुनाने का अवसर प्राप्त कर अपनी कूट-राजनीतिक प्रवीणता का परिचय भी दिया और अपने तथा भगवान् श्रीराम के शौर्य का परिचय देने का अवसर बनाया।

सुहृत्सम्मित (पुराण आदि) प्रभृति अर्थप्रधान साहित्य में जो प्रमुख विवरण मिलते हैं, वे द्व्यर्थक होते हैं— व्यावहारिक और वास्तविक। हनुमान् के सम्बन्ध में ऊपर जो विवरण दिये गये हैं वे व्यावहारिक हैं।

हनुमान् के उपर्युक्त गुणों में उनकी प्लवनशक्ति सर्वाधिक आश्चर्यजनक है। उनकी इस महती शक्ति के बिना सीता का पता पाना और रावण का मारा जाना असम्भव-जैसा लगता है। यही कारण है कि मैंने हनुमानजी की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए उन्हें 'प्लवगपुंगव' कहना सर्वोचित समझा है।

वास्तविकी व्याख्या के अनुसार हनुमान् महत् तेजस्तत्त्व हैं; महासत्त्व, महापराक्रम, महाबल, महाप्लवनक्षमता आदि जिसकी अंगभूत शक्तियाँ हैं।

हनुमत-तत्त्व को ठीक-ठीक समझने के लिए सृष्टिचक्र की गतियों पर ध्यान देना आवश्यक है। सृष्टि-चक्र अनुस्वार और विसर्ग के बीच क्रियाशील रहता है। 'अं' की स्थिति महाप्रलय की है 'अः' का प्रथम बिन्दु सृष्टि संलग्न रहता है, विसर्ग के दोनों बिन्दु स्थिति की अवस्था है। संक्षेपतः,

सृष्टिकारिणी शक्ति संकोच और प्रसारण-संलग्न रहने के कारण संकोच-प्रसरणशीला नाम से जानी जाती है। महाप्रलय की अवस्था में यह कवलीकृत निःशेष-ग्राम-स्वरूपिणी-शक्ति के रूप में रहती है। इसके प्रसार की अवस्था सृष्टि और स्थिति की है। शिव जब अपनी स्वराट् अवस्था से विलग होकर बहिरुन्मुख होते हैं, उनकी पहली कला कामकला का उदय होता है। 'एकोऽ हं बहु स्याम' की कामना के साथ आकाश अभिव्यक्त होता है। शिव की कामना परा-वाक् को जन्म देती है। उससे आकाश में जो स्पन्दन होता है, उससे वायु-तत्त्व का आविर्भाव होता है। वायु के घर्षण से तेज (अग्नि) उत्पन्न होता है। तेज से जल की और जल से पृथ्वी तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इन तत्त्वों में आकाश और वायु शुद्ध तत्त्व है। तेज में शुद्धता और अशुद्धता का मिश्रण होता है और पृथ्वी तत्त्व पूर्णतः अशुद्ध होता है। यहाँ यह जानने की बात है

कि शिव के साथ प्रकृति का स्वभाव तदनु रूप परिवर्तित होता है। शुद्ध में वह शक्ति 'निरंजना', शुद्धाशुद्ध में 'अंजना' और अशुद्ध में 'व्यंजना' स्वभाव होती है। शिव के पवन रूप में अंजना शक्ति का सहयोग तेज को जन्म देता है। यही तेजस्तत्त्व हनुमत्-तत्त्व है। यही वह हनुमत्-तत्त्व है, जिसके अंगभूत तत्त्व महासत्त्व, महाबल, महापराक्रम और महाप्लवन तत्त्व है। विश्व में शुद्धाशुद्ध-तत्त्वोत्पत्तिकारिणी शक्ति 'अंजना' के गर्भ से उत्पन्न हनुमत्-तत्त्व सामान्य नहीं। वाल्मीकि के कथानुसार पवनदेव ने गर्भस्थ हनुमान् के सम्बन्ध में अंजना से कहा है— महासत्त्वो महातेजो महाबल पराक्रमः। लङ्घने प्लवने चैव भविष्यति मया समः।। वह भगवान् हनुमान् के सम्बन्ध में अक्षरशः सत्य है।

चानमारी रोड, कंकड़बाग,
पटना-२०



Z ————— Z
S मत्स्य-पुराण (खेमराज श्री कृष्णदास प्रकाशन) के ६६वें अध्याय में सरस्वत-व्रत का S
Z विधान किया गया है। वहाँ साल भर प्रत्येक पंचमी तिथि में बुद्धि, विद्या, दाम्पत्य-सम्बन्ध Z
S में प्रगाढ़ता, बन्धु-जनों के साथ सुदृढ़ सम्बन्ध तथा आयु की वृद्धि के लिए सरस्वती की S
Z आराधना का विधान उपलब्ध है। मत्स्यावतार भगवान् विष्णु कहते हैं कि वीणा, रुद्राक्षमाला, Z
S कमण्डलु एवं पुस्तक धारण करनेवाली देवी की पूजा श्वेत पुष्प, अक्षत, चावल, घी आदि S
Z से धन-सम्पत्ति का दिखावा न करते हुए करें। इसके बाद पूजक यह संकल्प ले कि आज से Z
S मैं भोजन करते समय मौन रहूँगा। यहाँ सरस्वती देवी की स्तुति इस प्रकार की गयी है— S
Z
S **यथा न देवि भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः ।** S
Z **त्वां परित्यज्य सन्निषेत् तथा भव वरप्रदा । ।** Z
S **वेदाः शास्त्राणि सर्वाणि नृत्यगीतादिकं च यत् ।** S
Z **न विहीनं त्वया देवि तथा मे सन्तु सिद्धयः । ।** Z
S **लक्ष्मीर्मेधा धारा पुष्टिः गौरी तुष्टिः प्रभा मतिः ।** S
Z **एताभिः पाहि अष्टाभिस्तनुभिर्मा सरस्वति । ।** Z
S
Z ————— Z

‘वियोगिनी वैदेही’ और उर्दू कविता में सीता

डा० प्रणव देव

भारतीय साहित्य और संस्कृति में रामकथा एक अनुपम जाज्वल्यमान ज्योति है, जिसमें श्रीराम और सीता उसके चरम केन्द्र-बिन्दु हैं। वस्तुतः सीता के बिना राम का व्यक्तित्व अधूरा और अप्रभावी रह जाता है और इन दोनों के बिना रामायण का भी अस्तित्व नहीं। आदिकवि वाल्मीकि ने रामायण को सीता का महान चरित कहा है—

‘सीतायाश्चरितम् महत्।’ सीता के इसी महान्-चरित के पारायण के लिए कालान्तर में संस्कृत, हिन्दी सहित विविध भाषाओं, बोलियों में अनेक

काव्यों की सुन्दर सर्जना हुई।

रामकथा के बहुभाषाविद् अनेक स्वनामधन्य काव्यकारों में हिन्दी राम-कथा-कार पण्डित राधावल्लभ दीक्षित ‘वल्लभ’ का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने ने सीता के सतीत्व और उदारचरित और महान् त्याग से प्रभावित होकर ‘वियोगिनी वैदेही’ शीर्षक से सात सर्गों के एक श्रेष्ठ खण्डकाव्य की सर्जना की। इनका जन्म उत्तर प्रदेश के इटावा जनपद में लखना कस्बा में २ मार्च १९११ ई० को हुआ था। ये राष्ट्रीय-विचारधारा के कवियों में महत्त्वपूर्ण हैं। ‘वल्लभ’ जी ने जो साहित्य सेवा की, उसमें उनकी ‘राष्ट्रवाणी’, ‘विजय’, ‘राष्ट्रात्मा’,

‘मधुबन’, ‘पाती’, ‘वियोगी’, ‘विश्ववाणी’, ‘वल्लभ-विनोद’ के साथ-साथ ‘गाँधी महाकाव्य’ जैसी रचनायें उल्लेखनीय हैं।

‘वियोगिनी-वैदेही’ का प्रकाशन सत्साहित्य प्रकाशन, इटावा द्वारा सन् १९८३ ई० में हुआ था, जिसकी उत्कृष्टता के साथ-साथ सीता के महान्-चरित का प्रभाव आधुनिक उर्दू कविता पर भी

परिलक्षित होता है। यहाँ हम ‘वियोगिनी वैदेही’ में चित्रित सीता के चरित से सम्बन्धित कथावस्तु एवं महत्त्वपूर्ण घटनाओं के

[संस्कृत वाङ्मय में ही नहीं, आधुनिक भारतीय भाषाओं के विशाल वाङ्मय में भी मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम की शक्ति जगज्जननी जानकी के विशाल चरित्र का चित्रण हुआ है। उर्दू भाषा के कवि भी इसमें पीछे नहीं हैं। अलबत्ता, इन कवियों ने युग के अनुरूप सीता के चरित को देखा है। इटावा जनपद के हिन्दी कवि राधावल्लभ दीक्षित का काव्य ‘वियोगिनी वैदेही’ तथा उर्दू कवियों के काव्यों में सीता के चरित पर प्रकाश दे रहे हैं, डा० प्रणव देव।

—सं०]

साथ उर्दू कविता (शायरी) में चित्रित सीता की तुलनात्मक समीक्षा करने का प्रयास कर रहे हैं।

वस्तुतः सीता का आदर्श जीवन पातिव्रत, सेवा और त्याग की व्यापक पृष्ठभूमि पर अवलम्बित है, जहाँ विषय-भोगों के अस्तित्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। योग और भोग में समुचित समन्वय सीता के समक्ष सदैव रहा। लक्ष्मण के साथ हास-परिहास में भी वे इस तथ्य को स्पष्ट व्यक्त करती हैं—

“माना यह मैंने, सबसे त्याग बड़ा है;
पर क्यों जग में, यह भोगों का पचड़ा है?
मेरी सम्मति में वही गृही बड़भागी;
जो घर में रहकर बना रहे बैरागी

डर हुआ परीक्षा से फिर साधन कैसा?
वन में ही मन का दमन, तपोधन! कैसा?
यदि यह कायरता नहीं और तो क्या है?
हाँ, योग भोग में साधे तो दृढ़ता है।”

(वियोगिनी-वैदेही, प्रथमसर्ग, पृ० : ६७)

सीता ने राजमहलों का सुख छोड़कर अपनी इसी पतिसेवा-व्रत और त्याग-भावना से राम के साथ वनवास के दुःख भोगना सहर्ष स्वीकार किया था। अर्वाचीन उर्दू कवियों में ‘सरवर’ जहानाबादी सीता की इसी पतिसेवा-व्रत और त्याग-भावना को इन शब्दों में रेखांकित करते हैं—

“सेहरा मुझे चमन है रफाकत में आपकी,
दुनिया के सारे ऐश हैं खिदमत में आपकी।
पलको से रहा दशतू की झाड़ करूँगी मैं,
दासी हूँ, ले चलो मुझे, सेवा करूँगी मैं।।”

‘वियोगिनी वैदेही’-कार वल्लभजी सीता-हरण के मूल में मारीच को मोह और उसकी स्वर्णिम काया को माया मानते हुए कहते हैं—

“जीवनधन! देखो तो यह स्वर्णिम काया
अब तक ऐसा मृग नहीं दृष्टि में आया।
इच्छा होती है इसे निरन्तर देखूँ;
मिल सके अजिन तो सफल भाग्य निज लेखूँ।
यह अभिलाषा थी, अथवा भीषण ज्वाला;
जल गया दनुज कुल जिसमें सब मतवाला।

(पूर्वोक्त, वि० वै०, प्रथम सर्ग, पृ० ७-८)

उस मायामृग के पीछे राम धनुर्धर;
वैदेही को यह दृश्य लगा अति सुन्दर।
लावण्य-सिन्धु था छलक रहा मन माया,
लीला का जिसमे लोल कमल लहराया।
वल्कल दुकूल पर केश-कलाप तिरोहित;
रोहित मुख-छवि पर था अरण्य भी मोहित।”

(पूर्वोक्त, वि० वै०, प्रथम सर्ग, पृ० ६)

निर्गुण कवियों की भावभूमि पर उर्दू शायर कृष्णमोहन ने मारीच को मोह का प्रतीक तथा ज्ञान

ध्यान का वैरी मानते हुए अपने भाव इस प्रकार व्यक्त किया है—

माया मोहित, चंचल वेकल ज्ञान, ध्यान का बैरी,
काया पर भरमाया है मन काया के गुण गाय।।

त्रेता के इस मायामृग को प्रतीकात्मक रूप में स्वीकार कर इसे आज की झूठी चमक-दमक पूर्ण शिक्षा-दीक्षा और भ्रष्टाचार के रूप में पाकर उस पर व्यंग्य करते हुए प्रेमपाल ‘अशक’ इन शब्दों में अपने भाव व्यक्त करते हैं—

आँख पे गॉगल, हाथ में डिंजी खावों के बाजार।

मृग सोने का देख के, विद्या हुई उदार।।

मुंशी वनवारी लाल ‘शोला’ ने स्वर्ग हिरण-हरिण के मृगचर्म को लाने का अनुरोध श्रीराम से सीता के शब्दों में इस प्रकार किया है—

इतने में एक आहु ए जररीं पड़ा नजर।

खुश-रंग रूप, जिस्म तिलाकर सीम-वर।।

देखा उसे सिया ने तो कुछ जी लुभा गया,
आबू को मृगनयन का अन्दाज भा गया।
रघुवर से बोली देख के, आहा है क्या हिरण।
क्या रंग मीनाकार है क्या खुशनुमा बदन।
हे नाथ! लाओ गर पे गजाल-खतन मिलें।
क्या अच्छा मृग छाला हो, जो यह हिरण मिले।

मरणासन्न मारीच का मायावी आर्तक्रन्दन वल्लभजी के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

सुन पड़ी आर्तध्वनि उसी समय ‘हा लक्ष्मण’,
बल, म्लान लता गिर पड़ी भूमि पर तक्षण!
विस्मित विशेष सौमिल हुए सुन वाणी,
यह कौन, कहाँ से बोला पापी प्राणी?

(वि० वै० द्वितीय सर्ग)

मुंशी वनवारी लाल ‘शोला’ इस घटना को इन शब्दों में रूपायित करते हैं—

आवाज सुन के जानकी व्याकुल हुई इधर
बोली लखन से जल्दी से भाई की लो खबर।
तुमको पुकारते हैं, कोई बात है मगर
आवाज इधर से आयी है स्वामी गये जिधर।

सीता की रक्षा के लिए लक्ष्मण के द्वारा 'लक्ष्मण-रेखा' खींच कर उन्हें समझाने का वर्णन 'वियोगिनी वैदेही' में इन शब्दों में किया गया है—

बोले रामानुज, “माँ, तुम रहना भीतर।
रेखातिक्रम जो कोई जीव करेगा,
वह पापी जलकर अपने आप मरेगा”
यह कहकर से वे बाहर निकले;
या शूल-पाणि बन आज धनुर्धर निकले;
देखी फिर पीछे मुड़कर निष्प्रभ सीता;
चिन्तिता, चकित, विनता निवशा भयभीता।

(पूर्वोक्त वि० वै०, द्वितीय सर्ग, पृ० १३)

आधुनिक उर्दू कवियों ने 'लक्ष्मण रेखा' को नारी मर्यादा की प्रतीक, लाक्षणिक रूप में स्वीकार कर वर्तमान समाज में नारी स्वातन्त्र्य को आवश्यक मानते हुए अपने जो मनोभाव व्यक्त किये हैं, उन्हें अपसंस्कृत का स्पर्श स्वीकार किया जा सकता है। 'मुजफ्फर हनफी' ने पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होकर वर्तमान सामाजिक जटिल परिस्थितियों में तो लक्ष्मण रेखा को नारी विकास का बाधक माना है—

ऊपर-नीचे, आगे पीछे, दाँये बाये रोक
जनता की लक्ष्मण-रेखाओ आगे जाने दो।

'कैफी' आजमी तो इससे कई कदम आगे बढ़कर लक्ष्मण-रेखा अर्थात् जिसे प्रतीकात्मक नारी मर्यादा माना जाता है, को बन्धन समझकर उसे मुक्ति दिलाने के लिए रावण को भी आमन्त्रित करने से नहीं हिचकते—

चन्द रेखाओं की सीमाओं में,
जिन्दगी कैद है सीता की तरह।

राम कब लौटेंगे मालूम नहीं

काश, रावण ही कोई आ जाता।

मुंशी वनवारी लाल 'शोला' सीता के आग्रह पर लक्ष्मण के प्रस्थान और लक्ष्मणरेखा का वर्णन इन शब्दों में करते हैं—

आखिर लखन उठे, लिया धनुष-बाण को संवार
हलका श्रीसिया का किया खींच के हिसार।

बाहर चरण न रखना, ये समझा के बार-बार,
अँगड़ाई ले के शेर बढ़ा जानिबे-शिकार।

सीता-हरण का मार्मिक प्रसंग वल्लभजी ने अत्यन्त हृदय द्रावक एवं सरस चित्रित किया है—
बोला यति, “सुन्दरि, बँधी भीख जो दोगी;
तो मुक्ति न मुझको प्राप्त किसी विधि होगी;”
भवितव्य-भाव-वश सीता समझ न पायी,
रेखा उल्लंघन कर वे बाहर आयी,
हंसकर योगी ने कहा, “सुमुखि सुकुमारी;
तुम धन्य, धन्य है कृपा अपूर्व तुम्हारी!”
यदि दान मुझे दो बाले! प्रेमी मन का;।
“है यह कैसा छल?” वह सरला चिल्लाई;
प्रिय पर्णकुटी के कण-कण से ध्वनि आयी!

(पूर्वोक्त, द्वितीय सर्ग, पृ० १६-१७)

वनवारी लाल 'शोला' ने सीताहरण के प्रसंग को अपनी सकल शायरी में इस प्रकार प्रस्तुति दी—
फिर ब्रह्मण का रूप लेके गया सिया के हुजूर
वह कन्दमूल-फल जो लगी देने दिल पजीर
बोला श्री सिया से भिखारी सियाह-जमीर!
देनी अगर है भीख तो दो छोड़कर लकीर
भिक्षा बंधी हुई नहीं लेते कभी फकीर।
बाहर जो कुण्डली से चली, धोखा खा गयी।
रावण के छल में हाय महारानी आ गयी।

रावण के हरण करने पर वियोगिनी वैदेही जिस प्रकार उदास चिन्ताग्रस्त होकर अशोक वाटिका में बैठी है, उसका चित्रण 'वल्लभ' जी ने इस प्रकार किया है—

मालती जहाँ थी तक तरु अशोक-रस-मग्ना;
थी वही मैथिली आल बाल संलग्ना।
विखरे कच, दृग जल भरे वेदना छाई
वैदेही बनकर क्या करूणा थी आई?
थी राजहंसिनी मान सरोवर हीना;
वह कंजकली थी, नीर-शून्य अति दीना।
सिंहिनी पड़ी थी, हाय विकट बन्धन में;
कोई न जानता, क्या है विधि के मन में।।

(पूर्वोक्त पंचम सर्ग, पृ० ४३)

अशोक वाटिका में सीता के चित्र को 'नकीस खलीली' इन शब्दों में चित्रित करते हैं—

रुख जर्द मिसले जाफरा। हैरान है आईना सा।
देखो जो चश्म ए दूखी। खा जाये धोखा, है यकीं।
तसवीर है इक कागजी। बस खत्म है कारीगरी।
परमात्मा ऐसा करे। बस जान इसमे डाल दे।

कविवर राधावल्लभ दीक्षित ने रामायण की अनुच्छाया में सीता की अग्निपरीक्षा का मार्मिक चित्रण किया किया है। यथा—

आर्या की आज्ञा, प्रभु की इच्छा पाई;
सौमित्रि व्रती ने चन्दन चिता रचाई।
धधकी ज्वाला लिपटी लपटें नम से ही;
उसमें बौठी कर परिक्रमा वैदेही।
खिल उठी अनल में वह पद्मिनी पुनीता;
सीता थी पावक या पावक ही सीता।
पट अरुण, बने से रक्तकेतु हिलते थे;
या भक्ति और शृंगार-भाव मिलते थे!
थी दीप्ति-विभूषित जगदम्बा कल्याणी,
या यज्ञानल में पैठी अहा, भवानी।



निकली भू-तनया तव प्रचण्ड ज्वाला से;
ज्यों रज्जित ऊषा शरद जलद माला से;
कंचन सी सीता दिव्य दमकती निकली,
वह अग्नि-शिखा से अधिक चमकती निकली।
अम्बर में थी ध्वनि 'जय प्रिय प्रकृति पुनीता;
भूतल चिल्लाया 'जय वियोगिनी सीता!
गरजा सागर भी 'शक्ति मूर्ति वैदेही;
वामाङ्ग विभूषित हुई राम के सीता;

(पूर्वोक्त वि० वै० सप्तम सर्ग, पृ० ७१)

उर्दू कवियों ने तो सीता की अग्नि परीक्षा को लोक जीवन से जोड़ते हुए नारी के सतीत्व और शुचिता को विश्वास की सुदृढ़ पृष्ठ-भूमि पर अवलम्बित माना है। इस दृष्टि से 'जोहरा निगार' लोकगीत की निम्नलिखित पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं—

सिया को देखे सारा गाँव

आग पे कैसे धरेगी पाँव!

बच जाये तो देवी माँ है;

जल जाय तो पापिन!

जिसका रूप जगत् की ठंडक

अग्नि उसका दर्पण!

अग्नि पार उतर के सीता

जीत गयी विश्वास

देखा दोनो हाथ बढ़ाए

राम खड़े थे पास।

उस दिन से अस्तित्व में आया

सचमुच का विश्वास।।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्री राधावल्लभ दीक्षित 'वल्लभ' विरचित 'वियोगिनी वैदेही' एक कालजयी कमनीय काव्य-कृति है, जिसने रामायण की महत्त्वपूर्ण कथावस्तु को आत्मसात् करते हुए सीता के महान् चरित्र को लोकजीवन में विशेषतः नारियों के अन्तर्गत शील, सतीत्व, पातिव्रत, त्याग, तेज, धैर्य आदि का संचार किया। उर्दू कवियों ने भी रामायण की कथा के प्रभाव को ग्रहण करते हुए सीता के महान् चरित्र तथा आदर्श गुणों को अपने कलेवर में प्रस्तुति देकर श्लाघनीय कार्य किया है। सीता के जीवन सम्बन्धी घटनाक्रम के आसपास का काव्यात्मक वातावरण निर्मित करने में शायर भी उन्मुख हैं। यथा— त्रिजटा, शबरी, जटायु आदि का प्रसंग नहीं दिया गया, जबकि वल्लभजी ने वियोगिनी वैदेही में इन प्रमुख पात्रों आदि का भी सजीव-सफल चित्रण किया है। भारतीय समाज ही नहीं, अपितु विश्व समुदाय सीता के अनुपम गुणों के आलोक में जिस प्रकार उद्भासित हुआ है, उसे विश्वजन-मानस भारतीय संस्कृति के इस समुज्ज्वल नारी-रत्न से पर्याप्त चमत्कृत और प्रभावित हुआ है।

२ डी० २३, डाउसिंग बोर्ड कालोनी
झालावाड़, राजस्थान, पिन- ३२६००१



उपनिषदों की सुगन्धि है गीता

ॐ गोपालजी

उपनिषद् ज्ञानकाण्ड है। यह चिरकाल से ही ज्ञान का प्रकाश देता चला आ रहा है। उपनिषद् में ब्रह्म विद्या है। यह अध्यात्म-ज्ञान से भरा हुआ है। जीव ब्रह्म ही है। ब्रह्म से पृथक् नहीं है। उपनिषद् का उपदेश है 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि'— यह समस्त जगत् वास्तव में ब्रह्म ही है। वही (ब्रह्म) तू है। यह उपनिषद् के तत्त्वज्ञानोपदेश का सारांश है। श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषदों का निचोड़

तत्त्वज्ञानोपदेश के रूप में सात सौ श्लोकों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। गीता माहात्म्य में कहा गया है—

[गाने के अर्थ में 'गै' धातु से क्त प्रत्यय लगाने पर 'गीत' शब्द की सिद्धि होती है। इसका अर्थ होगा— 'गाया हुआ।' इस गीत शब्द से स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय जोड़ने से 'गीता' शब्द की सिद्धि हुई। चूँकि संस्कृत में 'उपनिषद्' शब्द स्त्रीलिंग है और गीता को भी उपनिषद् माना गया है, अतः इसे भी स्त्रीलिंग माना गया। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस उपनिषद् का गायन किया वह उपनिषद् है— श्रीमद्भगवद्गीता। इसे यहाँ उपनिषदों को सार कहा गया है।
—सं०]

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

अर्थात्, सभी उपनिषदें गाय हैं। इन गायों को दुहनेवाले भगवान् कृष्ण हैं और अर्जुन बछड़ा हैं। इससे जो दूध निकला वह अमृत-तत्व गीता है। जिसे सुधीजन पान करते हैं। यहाँ अर्जुन को बछड़े की संज्ञा इसलिए दी गयी है कि अर्जुन अध्यात्म-ज्ञान ग्रहण करने के क्रम में अध्यात्म-विषयक अनेक प्रश्नों के उत्तर के क्रम में ही भगवान् कृष्ण के मुख से अध्यात्म-ज्ञान का उपदेश ब्रह्म-विद्या के रूप में प्रकट हुआ, जो गीता के अठारह अध्यायों में समाहित है।

गीता को योगशास्त्र कहा गया है; क्योंकि इसमें जीवन के तीनों स्तम्भों कर्म, भक्ति और ज्ञान के योग को प्रतिपादित किया गया है, और इन स्तम्भों को मजबूत करने के कौशल में विकास के उपाय भी बताये गये हैं।

गीता के प्रथम छः अध्यायों (अध्याय-संख्या एक से छः तक) में कर्मयोग विषयक विशद विवेचन है। दूसरे छः अध्यायों (अध्याय संख्या सात से

ठारह तक) में भक्ति-योग को निरूपण प्रस्तुत है। अठार अन्तिम छः

अध्यायों (अध्याय संख्या तेरह से अठारह तक) में ज्ञानयोग का विशद वर्णन है।

गीता का प्रथम अध्याय 'विषादयोग' है, जो गीता प्रस्तुति की भूमिका है। महाभारत युद्ध के समय अर्जुन के अन्तःकरण में उत्पन्न स्वजनासक्ति और मोह-नाश के लिए भगवान् कृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय से लेकर सत्रहवें अध्याय तक तत्त्वज्ञान की प्रस्तुति में बार-बार अनेक उदाहरणों और प्रसंगों का सहारा लेते हुए सम्प्रत्ययों का प्रबलन किया है।

गीता का दूसरा अध्याय सम्पूर्ण गीता-शास्त्र का सारांश है। आगे के अध्यायों में तत्त्वज्ञान विकास हेतु उन्हीं बातों को स्पष्ट करने के लिए विस्तृत व्याख्या है।

द्वितीय अध्याय के ही श्लोक संख्या ५५ से ७२ तक, जो कुल अठारह श्लोक हैं, वे गीता के अठारहों अध्याय में प्रस्तुत अध्यात्म-ज्ञान के सूत्र हैं। इन अठारह श्लोकों में स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताया गया है। शुद्ध-बुद्धि को प्रज्ञा कहते हैं। जब व्यक्ति की शुद्ध-बुद्धि सदैव हर परिस्थिति में विचलित नहीं होती और शुद्ध ही बनी रहती है, तो वह प्रज्ञावान् कहलाता है। बुद्धि का स्थान शरीर इन्द्रियाँ और मन से श्रेष्ठ प्रतिपादित है।

कठोपनिषद् में शरीर की तुलना रथ से की गयी है। शरीर रूपी रथ में इन्द्रिय रूपी दस घोड़े जुते हुए हैं— पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय। इन पर मन रूपी लगाम लगा हुआ है। यह लगाम बुद्धि रूपी सारथी के हाथ में है। इन्द्रिय के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन्द्रिय रूपी घोड़ों के चारे हैं। आत्मा रथी है। परमपद की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि जीवन-यात्रा में मन रूपी लगाम के द्वारा बुद्धि रूपी सारथी इन्द्रिय रूपी घोड़ों को नियन्त्रित रखते हुए उन्हें सन्मार्ग पर ले जाए।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यार्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।।

(कठोपनिषद् : १।३।१०)

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।

(गीता : ३।४२)

बुद्धितत्त्व ही महत्-तत्त्व है। बुद्धि के द्वारा विचार करके मन को राग-द्वेष रहित बनाकर अपने वश में कर लेना चाहिए। बुद्धि से भी इसका स्वामी आत्मा महान् बलवान् है। अतः मनुष्य को आत्मशक्ति का अनुभव करके उसके द्वारा बुद्धि आदि सबको नियन्त्रित रखना चाहिए। आत्मज्ञान से ही आत्मशक्ति का अनुभव होता है। उपनिषद् का स्पष्ट आदेश है— “यदि जीव स्थायी सुख-शान्ति प्राप्त करना चाहता है, तो उसे आत्मज्ञान के लिए प्रयत्नशील होना पड़ेगा।” अध्यात्म की ओर बढ़े बिना स्थायी सुख-शान्ति की प्राप्ति असम्भव है।

श्रद्धा और भक्ति से ही ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। इसके लिए तत्परता और इन्द्रिय-संयम भी आवश्यक है। आत्मसुख सभी सुखों की जड़ है। कामनाओं की कामना करनेवाले को कभी सुख-शान्ति नहीं मिलती। ईश्वरार्पण भाव से लोक कल्याणकारी कर्तव्य कर्म में निःस्वार्थ भाव से फलासक्ति छोड़कर कार्य करने से ही भरपूर शक्ति मिलती है और उसी मनुष्य को खोजते-खोजते ज्ञान निश्चय पहुँच जाता है। वह ज्ञान जब हृदय में स्थिर होता है और शान्ति का अंकुर फूटता है, तब आत्मबोध का विस्तार प्रकट होता है। फिर जिस ओर दृष्टि जाती है, वहाँ शान्ति ही दिखाई देती है और विचार करने से अपना और पराया नहीं दीख पड़ता। भेदबुद्धि समाप्त हो जाती है। भेदबुद्धि नहीं रखना ही बुद्धियोग है। बुद्धियोग का आश्रय लेने से समता-दृष्टि विकसित होती है और ‘समत्वं योग उच्यते’ समता दृष्टि से ही कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग की मजबूती होती है।

भेदबुद्धि से संशय बढ़ता है। संशय से व्याकुल मनुष्य सत्य और असत्य, अनुकूल और प्रतिकूल, भला और बुरा नहीं समझता। प्राणियों के लिए यह नाश का जाल है, इसलिए इसका त्याग करना चाहिए।

कर्मक्षेत्र में शास्त्रोक्त स्वधर्मपालन ही समस्त ज्ञान का सार है और सर्वोन्नति का मूल है। उपनिषदों में यह स्पष्ट कहा गया है कि यदि मनुष्य सुख-शान्ति चाहता है, तो उसे स्वधर्माचरण करते हुए अध्यात्म-पथ पर बढ़ना चाहिए। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि ‘अध्यात्मविद्या विद्यानाम्’ अर्थात्, सभी विद्याओं में अध्यात्म-विद्या में ही हूँ। एक स्थान पर गीता में ही भगवान् कृष्ण ने कहा है—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा

अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।

द्वन्दैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै

र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।

(गीता : १५।१५)

इस श्लोक में सम्पूर्ण गीतार्थ समाहित है। जिस मनुष्य के मन ने मोह और मान को छोड़ दिया है और जिसने संग-दोष को जीत लिया है, जो अध्यात्म-ज्ञान में सदैव स्थिर रहते हैं, जो निष्काम और सुख-दुःख मूलक द्वन्द्वों से मुक्त हो गए हैं, वे ज्ञानी-पुरुष परमपद को प्राप्त करते हैं।

किसी वस्तु का बार-बार ध्यान करने से उसके साथ संग-दोष उत्पन्न हो जाता है। संग-दोष से ही राग और द्वेष की उत्पत्ति होती है। अगर ध्यान किया जानेवाला विषय मनोनुकूल होता है, तो उससे राग उत्पन्न होता है और मनुष्य उससे जुड़ने की कोशीश करता है। यदि ध्यान किया जानेवाला विषय मनोनुकूल नहीं होता, तो द्वेष उत्पन्न होता है और मनुष्य उसे त्यागने का प्रयास करता है। राग और द्वेष जब तक लगा रहता है, मन को शान्ति नहीं मिलती। मन चंचल प्रकृति का होता है, वह सहज ही विषयों की ओर आकृष्ट हो जाता है। मन को नियन्त्रित करने के उपाय जानने के लिए अर्जुन ने गीता के छठे अध्याय में प्रश्न किया है। उसके उत्तर में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।

(गीता : ६।३५)

अर्थात्, हे महाबाहु अर्जुन! इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि मन चंचल है और उसका निग्रह करना कठिन है। परन्तु हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से उसे अधीन किया जा सकता है। किसी भी कार्य को बार-बार करना 'अभ्यास' कहलाता है और वैराग्य का अर्थ है राग या प्रीति न रखना और कार्य में फलासक्ति का त्याग। प्राणवायु के निरोध के सतत अभ्यास से मन नियन्त्रित हो जाता है। मन में राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि उत्पन्न होने से प्राण-वायु विषम बहने लगती है। प्राण-वायु के विषम बहने से मन में तनाव, चिन्ता, उद्विग्नता बढ़ती है और मन

अशान्त हो जाता है। मन को शान्त रखने के लिए भगवान् कृष्ण ने गीता में स्पष्ट निर्देश दिया है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।

(गीता : ४।२६)

प्राणायाम में तत्पर होकर प्राण और अपान की गति को रोककर कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। साथ-ही-साथ प्राण-वायु का अपान वायु में हवन करके पूरक प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए और इसके विपरीत अपान में प्राण का होम करके रेचक प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राण और अपान मुख्य प्राण के ही प्रकार हैं। श्वास द्वारा बाहर जाने वाला अर्थात्, उच्छ्वास वायु को 'प्राण' कहते हैं और आने वाला श्वास को अपान कहते हैं।

उपनिषद् में स्थान-स्थान पर प्राण की महिमा बताई गयी है। छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम अध्याय में वाक्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण और आशा को एक दूसरे से उत्कृष्ट बताते हुए पन्द्रहवें खण्ड में प्राण को आशा से भी बढ़कर बताया गया है कि जिस प्रकार रथचक्र की नाभि में अरें (तीलियाँ) समर्पित होते हैं, उसी प्रकार इस प्राण में सारा जगत् समर्पित है।

जाबाल दर्शनोपनिषद् में प्राणायाम की विधि छठे खण्ड में बताते हुए, यह स्पष्ट किया गया है कि प्राणायाम का अभ्यास करने से अज्ञान का नाश हो जाता है और अज्ञान का नाश होने पर राग आदि का भी संहार हो जाता है और इससे मनःशक्ति भी विकसित होती है।

'ईशावास्योपनिषद्' में वर्णित ज्ञानयुक्त कर्म का प्रतिपादन मुक्तकण्ठ से गीता में किया गया है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय में ब्रह्मज्ञान का उपदेश भरा हुआ है। ज्ञान-चक्षु से ही संसार का वास्तविक स्वरूप दिखाई पड़ता है। भगवान् कृष्ण ने पन्द्रहवें अध्याय में संसार को एक विशाल फैला हुआ वृक्ष

कहा है, जिसकी जड़ें ऊपर और शाखाएँ नीचे-ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। परब्रह्म परमात्मा ही उस वृक्ष की जड़ है। इसकी जड़ से विशाल फैला हुआ वृक्ष वास्तव में कुछ न होने पर भी 'माया' नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में ब्रह्म का ही प्रभाव सर्वत्र प्रकट है। ब्रह्मज्ञान होने से मनुष्य में स्वभावतः ईश्वरार्पण का भाव उत्पन्न होता है और अकर्तापन का भाव आ जाता है।

गीता का अठारहवाँ अध्याय गीतार्थ रूपी चिन्तामणि का बना हुआ गीता-रत्न मन्दिर के कलश के समान है। दूर से मन्दिर का कलश ही दिखाई देता है और उस कलश के दर्शन से देवता-दर्शन के

फल की प्राप्ति समझी जाती है; क्योंकि कलश में सभी देवताओं की प्राण-प्रतिष्ठा की हुई रहती है। उसी प्रकार गीता का अठारहवाँ अध्याय पढ़ने से और उसके अर्थ-ज्ञान से सम्पूर्ण गीता-शास्त्र अवगत हो जाता है। जैसे मन्दिर के ऊपर कलश के स्थापन के बाद कुछ काम शेष नहीं रहता, उसी प्रकार गीता का अठारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण गीता ज्ञान समेटे हुए है।

ए-४, ऑफिसर्स प्लैट,

न्यू पुनाईचक,

पटना-८०००२३



pe d fg

भगवान् बुद्ध का जीवन एवं उनके सन्देश पर आधारित संस्कृत महाकाव्य 'बुद्धचरित' महाकवि अश्वघोष की महनीय कृति है। खेद का विषय है कि २८ सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य का १-१४ सर्ग ही मूल संस्कृत में उपलब्ध हैं। इस भाग में भी अनेक श्लोक उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु सम्पूर्ण बुद्धचरित का तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है, जिसके आधार पर आगे चलकर डा० जॉन्स्टन ने इसका अनुवाद अंग्रेजी में किया। इस अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर सूर्यनारायण चौधरी ने हिन्दी में अनुवाद किया है। इसके २३वें सर्ग में भगवान् बुद्ध ने क्रोध के दुष्परिणाम का मार्मिक वर्णन किया है—

(४६) "जैसे रूपवानों के लिए बुढ़ापा और आँखवालों के लिए अँधेरा है, वैसे ही क्रोध, धर्म अर्थ व काम का विफलीकरण तथा विद्या का शत्रु है।

(४७) क्रोध चित्त का घना अन्धकार है, मित्रता का प्रधान शत्रु है, सम्मान-विनाशक और अपमानजनक है।

(४८) इसलिए क्रोध न कीजिए, यदि आप करते भी हों तो इसे छोड़ दीजिए। जैसे दंशधर्मा साँप के पीछे आप नहीं पड़ते हैं, वैसे ही क्रोध के पीछे न पड़े।

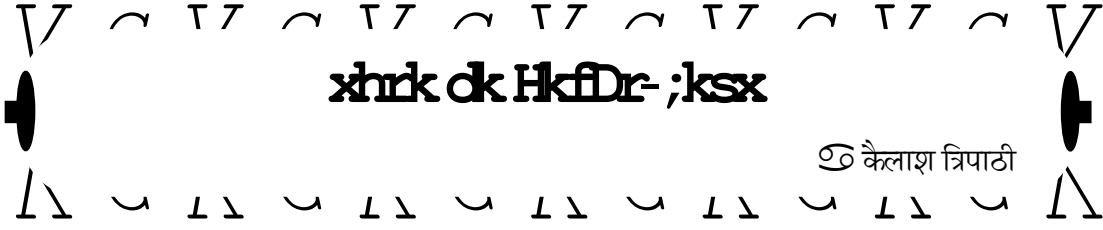
(४९) जो कोई मार्ग से बहके हुए रथ के समान क्रोध को लगाम लगाकर दृढ़तापूर्वक वश में रखता है, उसी को मैं सच्चा सारथि समझता हूँ, दूसरे प्रकार का सारथि तो केवल लगाम पकड़नेवाला है।

(५०) जो कोई क्रोध करना चाहता है और इसकी उत्पत्ति को रोकना नहीं चाहता है, क्रोध बीतने पर वह ऐसे जलता है जैसे आग छूने से।

(५१) जब मनुष्य क्रोध करता है, तो पहले उसका ही चित्त जलता है; पीछे, ज्यों-ज्यों क्रोध बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों, दूसरे भी, इससे जल सकते हैं या नहीं भी (जल सकते हैं)।

(५२) शरीर-धारी शत्रुओं के प्रति द्रोह करने से क्या लाभ, जब कि (शरीरधारी प्राणियों का) संसार ही रोग आदि विपत्तियों से पीड़ित है?

(५३) इसलिए संसार को दुःख के वशीभूत जानकर आपलोगों को क्रोध रोकने के लिए सब जीवों के प्रति मैत्री एवं करुणा का आचरण करना चाहिए।"



अनादि अनन्त भगवान् श्रीकृष्ण की 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' दिव्य-वाणी श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग तीनों ही भगवत्प्राप्ति के साधन हैं। यद्यपि ये तीनों साधन स्वतन्त्र हैं, तथापि इनमें से किसी एक साधन के सिद्ध हो जाने पर शेष दो साधन भी स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं कि अनन्य भक्ति से मैं जाना जा सकता हूँ (गीता : ११।५४)। आशय यह है कि भक्ति से ज्ञानयोग भी स्वतः सिद्ध हो जाता है। व्यक्ति अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार ज्ञान, कर्म और भक्ति में किसी एक का निष्ठापूर्वक आश्रय लेकर अपना अभीष्ट सिद्ध कर सकता है। गीता में ज्ञानयोग एवं कर्मयोग के साथ भक्ति के विभिन्न रूपों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। गीता भगवान् की ऐसी अद्भुत वाणी है कि इसमें अपनी चित्तवृत्ति के अनुरूप कोई ज्ञानयोग की प्रमुखता देखते हैं, कोई कर्मयोग की तो कोई भक्तियोग की। यहाँ गीता में निहित भक्ति-तत्त्व की ओर सांकेतिक ध्यानाकर्षण अभीप्सित है।

गीता के अनुसार भक्ति का एक रूप वह है, जिसमें क्रिया और भाव दोनों भगवद्विषयक हों। यथा—जप-ध्यान, पूजा-पाठ, सत्संग-स्वाध्याय, श्रवण-मनन आदि क्रियाएँ भगवत्सम्बन्धी हैं और उनको करने में भगवद्भाव भी है (गीता : १०।८-९)। भक्ति का दूसरा रूप वह है, जिसमें कर्तव्य

निर्वहण हेतु परिवार का पालन-पोषण, जीविकोपार्जन आदि सांसारिक क्रियाएँ भगवद्भाव से सम्पन्न की जाएँ (गीता : ६।२७, १८।४६, ३।३०)।

मनीषियों ने अपने-अपने चिन्तनों एवं अनुभूतियों के आधार पर भक्ति को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। नारद-भक्ति-सूत्र में नारद ने भक्ति को परम प्रेम रूप बताया है— 'सात्वस्मिन् परप्रेमरूपा' (नारद भक्ति-सूत्र)। शाण्डिल्य ने ईश्वर में परानुरक्ति को भक्ति माना है। 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (भक्ति-सूत्र : १।२)। भागवत में परानुरक्ति का अभिप्राय निर्हेतुक, निष्काम तथा निरन्तर प्रेम बतलाया गया है। 'अहेतुक्यव्यहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे' (३।२६।१२)।

भक्ति की सन्दर्भित परिभाषाओं के आलोक में ऐसा प्रतीत होता है कि भक्ति एक हृदयगत भाव है। इस भाव, मनोदशा या अवस्था तक पहुँचने के लिए साधकों द्वारा जिन-जिन साधनों का आश्रय लिया जाता रहा है, उन्हें भी भक्ति अथवा भक्ति के अंगों के रूप में स्वीकार लिया गया, यथा—नवधा भक्ति। चाहे वह श्रीमद्भागवत की नवधा भक्ति हो या रामचरितमानस की। यह सब साधन मनुष्य के मन को उस विशिष्ट भाव या निर्मल अवस्था में ले जाने तथा अवस्थित करने में सहयोगी हैं, जिसे भक्ति कहा जाता है। गीता में अनन्य भक्ति का जो स्वरूप दर्शाया है— उसमें, साधन-पंचक के निरूपण में भी यही तथ्य अन्तर्निहित प्रतीत होता है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।

(गीता : ११।५५)

शंकराचार्य ने अपने भाष्य में गीता के इस श्लोक को 'सर्वार्थसार' अर्थात् सम्पूर्ण गीता का सार कहा है। गीता के इस श्लोक में भक्ति-भाव के लिए पाँच बातों का आश्रय लेने के लिए कहा गया है। जिन्हें मनीषियों द्वारा साधन-पंचक की संज्ञा दी गयी है। इन पाँच बातों के दो विभाग हैं— (१) भगवद्विषयक रति (२) लौकिक विरति। पहले विभाग में 'मत्कर्मकृत्', 'मत्परमः' और 'मद्भक्तः' ये तीन बातें हैं और दूसरे विभाग में 'सङ्गवर्जितः' और 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' ये दो बातें हैं।

(१) 'मत्कर्मकृत्' का तात्पर्य है, समस्त कर्मों को भगवान् को अर्पित कर देना। जो जप, कीर्तन, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय आदि भगवद्विषयक कार्यों को तथा अन्य लौकिक कर्तव्य कर्मों को भगवत्-परायण होकर करता है, वह 'मत्कर्मकृत्' है।

(२) 'मत्परमः' का भाव यह है कि जो भगवान् को सर्वस्व मानकर उनके परायण रहता है अर्थात्, जिसके परम-ध्येय एवं परम-आश्रय एक मात्र भगवान् हैं। जो पूरी तत्परता से भगवान् को प्राप्त करने के लिए कर्म करता है, उसे ही भगवान् ने 'मत्परमः' कहा है।

(३) 'मद्भक्तः' पद का अर्थ है, जो केवल मेरा भक्त है। जिसका मेरे प्रति अतिशय प्रेम है। जिसने यह सुनिश्चित कर लिया है कि मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं।

(४) 'सङ्गवर्जितः' अर्थात्, सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थों में आसक्ति रहित होना। भगवान् को छोड़कर जिसका कहीं और किसी में किंचित् प्रेम न

हो, वह 'सङ्गवर्जितः' है। ऐसे व्यक्ति की संसार में आसक्ति, ममता और कामना नहीं रहती।

(५) 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' प्राणिमात्र के प्रति द्वेष या बैर भाव का सर्वथा अभाव। 'अद्वेषा सर्वभूतानाम्' अर्थात्, सर्वत्र भगवद्भाव होने से किसी के प्रति किंचित् भी वैर-भाव का उत्पन्न न होना 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' कहा जायेगा।

सन्दर्भित पाँच साधनों का आश्रय लेकर साधक उत्तरोत्तर जिस भाव की ओर अग्रसर होता है, वह भाव ही भक्ति है। जो यथार्थतः भक्ति-भाव में पहुँच जाता है, वह भगवान् को ही प्राप्त हो जाता है— 'स मामेति'।

यह है गीता में भक्ति का स्वरूप। जिसके संकेत-सूत्र गीता में यत्र-तत्र समाहित दिखाई देते हैं। गीता के छठे अध्याय में भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सर्वात्मरूप मुझ वासुदेव को व्यापक देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं है। तथा जो पुरुष एकात्मभाव में स्थित होकर सम्पूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव को भजता है, वह योगी सब प्रकार से बरतता हुआ भी मुझमें बरतता है (३०-३१)। इसी प्रकार, जो श्रद्धावान् मुझमें लगे हुए अन्तरात्मा से मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ भी माना है। ज्ञानयोग और कर्मयोग के प्रसंग में जहाँ अर्जुन का भक्ति विषयक प्रश्न ही नहीं है, भगवान् ने अपनी ओर से सांकेतिक रूप में भक्ति की बात भी कह दी है। जैसे— द्वितीय अध्याय के कर्मयोग प्रसंग में भगवान् 'मत्परः' पद से अपने परायण होने के लिए कहते हैं।

केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को ही अपना स्वामी मानते हुए स्वार्थ और अभिमान का त्याग करके श्रद्धा और भाव सहित प्रेम से भगवान्

का अनवरत चिन्तन करने को अव्यभिचारिणी भक्ति माना गया है। ज्ञान एवं अज्ञान को परिभाषित करते हुए भगवान् ने इस अव्यभिचारिणी भक्ति को भी ज्ञान के अन्तर्गत ही माना है (१३।१०-११)। और आगे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जो पुरुष अव्यभिचारिणी भक्तियोग द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह सत्त्व-रज-तम इन तीनों गुणों को भलि-भाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होने के योग्य बन जाता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।।

(गीता : १४।२६)

गीता के भक्तियोग में ज्ञानयोग और कर्मयोग भी समाहित है। यथा— जो अव्यभिचारी भक्तियोग से भगवान् का चिन्तन करता है, वह मनुष्य ऐसे ही गुणातीत हो जाता है, जैसे ज्ञानयोग से। भक्तियोग निष्काम कर्म में सहायक है; क्योंकि भक्त अपनी परिस्थितियों से सन्तुष्ट रहकर भगवान् का चिन्तन करते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करता है तथा उसमें कर्मफल के प्रति आसक्ति नहीं होती। अठारहवें अध्याय में 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' (४६)।, 'मद्भक्तिं लभते पराम्' (५४)। तथा 'भक्त्या मामभिजानाति' (५५)। वेदों में भी भक्ति की बात कही गयी है। गीता में ज्ञानयोग से पराभक्ति (प्रेम) की प्राप्ति और कर्मयोग से ज्ञान की प्राप्ति बताई गयी है, परन्तु भक्ति से भगवान् के दर्शन, भगवत्तत्त्व का ज्ञान और भगवत्तत्त्व में प्रवेश ये तीनों हो जाते हैं। स्वामी रामसुखदासजी श्रीमद्भागवत की नवधा-भक्ति के सूत्र प्रकारान्त से गीता में अन्तर्निहित देखते हैं। जैसे—

(१) श्रवण— जो मनुष्य तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषों से सुनकर उपासना करते हैं, ऐसे वे सुनने के परायण हुए मनुष्य मृत्यु को तर जाते हैं (१३।२५)।

(२) कीर्तन— भक्त प्रेमपूर्वक मेरे नाम, रूप, लीला आदि का कीर्तन करते हैं (६।१४)।

(३) स्मरण— जो मनुष्य अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करते हैं (८।१४)।

महात्मा लोग अनन्य होकर मेरा स्मरण करते हुए मेरी उपासना करते हैं (६।१३)।

(४) पादसेवन— भक्त प्रेमपूर्वक मुझे नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं (६।१४)।

(५) अर्चन— जिससे सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जो सबमें व्याप्त है, उस परमात्मा का अपने कर्मों द्वारा अर्चन करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है (१८।४६)।

(६) वन्दन— तू मेरे को नमस्कार कर, कि तू मेरे को ही प्राप्त होगा (६।३४, ६।६५)। हे प्रभो! आपको हजारों बार नमस्कार हो! नमस्कार हो! और फिर आपको बार-बार नमस्कार हो! नमस्कार हो! (११।३६)।

(७) दास्य— तू मेरा भक्त हो जा, फिर तू मुझे ही प्राप्त होगा (१८।६५)। हे कृष्ण! मैं आपका शिष्य हूँ (२।७)।

(८) सख्य— तू मेरा प्रिय सखा है (४।३)। हे कृष्ण! जैसे सखा सखा के अपमान को सह लेता है अर्थात् क्षमा कर देता है, ऐसे ही आप मेरे द्वारा किये गये अपमान को सहने में समर्थ हैं (११।४४)।

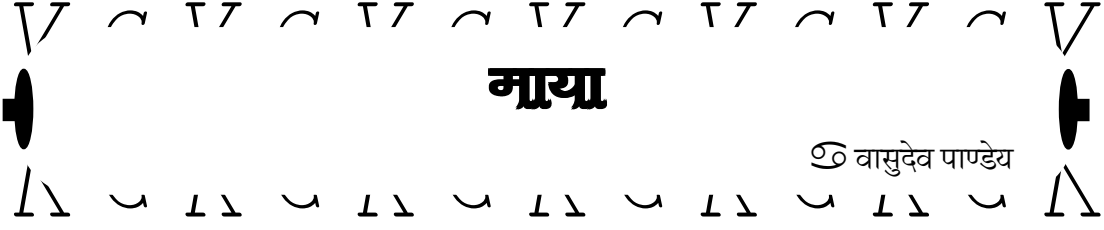
(९) आत्म-निवेदन— उस आदि पुरुष परमात्मा की ही शरण में हो जाना चाहिए (१५।४)।

इस प्रकार, गीता में कर्मयोग एवं ज्ञानयोग के साथ-साथ भक्तियोग पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। जिसकी परिपूर्णता 'मामेकं शरणं ब्रज' में दिखाई देती है।

'शिव-कुटी', आर्यनगर,
अजीतमल (औरैया),

उत्तर प्रदेश, पिन- २०६ १२१





मीयते अनया इति माया— जिससे हम 'उसे' जान सकें, उस ज्ञान का नाम माया है। 'उसे' से तात्पर्य परब्रह्म परमेश्वर से है। माया को प्रकृति, शक्ति, अज्ञा, प्रधान, मूलप्रकृति, महामाया, योगमाया आदिनामों से जाना जाता है।

ब्रह्म की शक्ति का नाम ही माया है। शक्ति अपने आश्रयरूप शक्त के साथ ही रहती है, इसलिए शक्तिरूप माया में जगत् के प्रति जो प्रकृतित्व है वह प्रकृतित्व शक्तिमान् ब्रह्म में भी है। माया परतन्त्र है ईश्वर के। माया अनादि-सन्त है। माया सत् भी है और असत् भी, अनादि होने से सत् है और सान्त होने से असत् है। वास्तव में इसको सत् या असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तत्त्वज्ञान के द्वारा 'सान्त' हो जाने के कारण सत् नहीं कहा जा सकता और सदा से इसकी प्रतीति होती चली आयी है, इसलिए असत् भी नहीं कह सकते। यही कारण है कि माया को सत्-असत् दोनों से विलक्षण एवं अनिर्वचनीय कहा गया है।

माया जड़ है; क्योंकि जो वस्तु दृश्य और विकारी होती है, वह जड़ ही होती है। जो कुछ देखने, सुनने और समझने में आता है, वह सब माया का कार्य होने के कारण माया का स्वरूप है। माया विद्या एवं अविद्या दो प्रकार की होती है। विद्या उसे कहते हैं, जिसके द्वारा ईश्वर सृष्टि की रचना करते हैं और गुण-कर्मों के अनुसार विभाग करते हैं तथा साकार रूप से प्रकट होकर जिस विद्या के द्वारा धर्म की स्थापना करके जीवों का उद्धार करते हैं। अविद्या उसे कहते हैं, जिसके द्वारा सब जीव मोहित हो रहे हैं, अर्थात् अपने स्वरूप और

कर्तव्य को भूले हुए हैं। विद्या के द्वारा अविद्या का नाश होने से जीव परमात्मा को प्राप्त होता है, जैसे ईंधन को जलाकर अग्नि स्वयं भी शान्त होता है। तब माया से रहित जीव केवल अवस्था को अर्थात्, सच्चिदानन्दघन परमात्मा में तद्रूपता को प्राप्त हो जाता है।

माया त्रिगुणमयी है, अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुणा है। माया के सहारे परमात्मा विश्व का पालन, पोषण और संहार करता हुआ क्रियानुसार नाम धारण करता है। श्रीमद्भागवत (४।७।५१) में कहा गया है—

आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।

सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्ने संज्ञां क्रियोचिताम्॥

अर्थात्, अपनी त्रिगुणात्मिका माया को स्वीकार करके मैं ही जगत् की रचना, पालन और संहार करता रहता हूँ और मैंने ही उन कर्मों के अनुरूप ब्रह्मा, विष्णु और शंकर— ये नाम धारण किये हैं।

विज्ञानानन्दघन परमात्मा के वेदों में दो स्वरूप माने गये हैं। प्रकृति रहित ब्रह्म को निर्गुण ब्रह्म कहा गया है और जिस अंश में प्रकृति या त्रिगुण-मयी माया है, उस प्रकृति सहित ब्रह्म के अंश को सगुण कहते हैं।

वेद के अनुसार माया को ही सृष्टि का कारण कहा गया है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां

बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते

जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

(श्वेताश्वतरोषनिषद् : ४।५)

अर्थात्, अपने ही सदृश अर्थात्, त्रिगुणमय बहुत से भूत-समुदायों को रचनेवाली त्रिगुणमयी (लाल, सफेद एवं काले रंग की) एक अजा को निश्चय ही एक 'अज' (अज्ञानी जीव) आसक्त हुआ भोगता है और दूसरा 'अज' (ज्ञानी महापुरुष) इस भोगी हुई प्रकृति को त्याग देता है। माया ही देव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि अपने ही समान त्रिगुणात्मक प्रजा की सृष्टि करती है। श्रीमद्भगवद्गीता (१४।३) में कहा गया है—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।

अर्थात्, हे अर्जुन! मेरी महद्ब्रह्म रूप प्रकृति अर्थात्, त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतों की योनि है अर्थात्, गर्भाधान को स्थान है और मैं उस योनि में चेतन बीच की स्थापना करता हूँ। उस जड़-चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।

ईश्वर की माया-शक्ति प्रत्येक वस्तु को नियम में रखती है और यदि वह माया-शक्ति नियम में न रखे, तो जगत् में विप्लव मच जाय। परमेश्वर जिस जिस देवता या मनुष्य आदि की उपाधि को धारण करते हैं, वह सब परब्रह्म स्वरूपी माया शक्ति की उपाधि है।

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि— इन सब पर आत्मा का अधिकार है, अतः यह स्वयं उनको वश में करके भगवान् की ओर बढ़ सकता है। परन्तु उस आत्मा से भी बलवान् एक और तत्व है, जिसका नाम 'अव्यक्त' है। कोई उसे प्रकृति और कोई माया भी कहते हैं। इसीसे सब जीव-समुदाय मोहित होकर उसके वश में हो रहा है।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।

बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ।।

(दुर्गा शप्तसती)

अर्थात्, वे भगवती महामाया देवी ज्ञानियों के भी चित्त को बलपूर्वक खींचकर मोह में डाल देती है।

इस माया को हटाना जीव के अधिकार की बात नहीं है। अतः इससे भी बलवान् जो इसके स्वामी परमपुरुष परमेश्वर हैं— जो बल, क्रिया और ज्ञान आदि रूपी शक्तियों की अन्तिम अवधि और परम आधार हैं— उन्हीं की शरण लेनी चाहिए। जब वे दया करके इस माया रूप परदे को स्वयं हटा लेंगे तब उसी क्षण वहीं भगवान् की प्राप्ति हो जायगी।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।

पुरुषात्र परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः ।।

(कठोपनिषद् : १।३।११)

अर्थात् उस जीवात्मा से बलवती है, भगवान् की अव्यक्त माया-शक्ति, अव्यक्त-माया से भी श्रेष्ठ है— परम पुरुष स्वयं परमेश्वर, परमपुरुष भगवान् से श्रेष्ठ और बलवान् कुछ नहीं है। वही सबकी परम अवधि और वही परमगति है। यहाँ अव्यक्त शब्द भगवान् की उस त्रिगुणमयी देवी माया शक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो गीता में 'दुरत्यया' बतायी गयी है—

देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।

(गीता : ७।१४)

यहाँ 'दुरत्यया' बताकर यह सूचित किया गया है कि मैं (अर्थात् भगवान्) इसका स्वामी हूँ तथा मेरी शरण में हुए बिना मनुष्य इस माया से सहज ही पार नहीं पा सकता।

यही (माया) जीवात्मा और परमात्मा के बीच परदा है, जिसके कारण जीव सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वर के नित्य समीप होने पर भी नहीं देख पाता। रामचरितमानस में कहा गया है—

उभय बीच सीय सोभहिं कैसे ।

ब्रह्म जीव बीच माया जैसे ।।

राम एवं लक्ष्मण, जो क्रमशः ब्रह्म एवं जीव के प्रतीक हैं, के बीच सीता किस प्रकार शोभायमान हो रही है, जैसे ब्रह्म एवं जीव के बीच माया।

जीव अपनी शक्ति से इस माया को नहीं हटा सकता; भगवान् की शरण ग्रहण करने पर

भगवान् की दया के बल से ही उससे पार हो सकता है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ४।१०)

अर्थात्, माया तो प्रकृति को समझना चाहिए और मायापति महेश्वर अर्थात्, परमपिता परमेश्वर को समझना चाहिए।

आदिशंकराचार्य ने भी स्वीकार किया है कि—

यथापकृष्टशैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति।

आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम्।।

अर्थात्, जिस प्रकार शैवाल को जल पर से एक बार हटा देने पर वह क्षणभर भी असंग नहीं रहता। तुरन्त ही फिर उसको ढँक लेता है।

लेकिन माया को परमेश्वर से भिन्न भी नहीं कह सकते; क्योंकि वेद और शास्त्रों में इसे ब्रह्म का रूप बतलाया गया है—

‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ - (छान्दोग्योपनिषद् : ३।१४।६)'

‘वासुदेवः सर्वमिति’ - (गीता : ७।१६)

‘सदसच्चाहमर्जुन’ - (गीता : ६।१६)

आदिशंकराचार्य के मायावाद सिद्धान्त में यह कहा गया है कि सत्ता केवल ब्रह्म ही की है, यह जो भेद दृष्टिगोचर हो रहा है वह केवल माया के कारण है। माया के माध्यम से देखने के कारण ही ईश्वर संसार का निमित्त एवं उपादान दोनों कारण हैं, परन्तु वास्तव में नहीं। ईश्वर से यह जगत् नहीं बना, बल्कि यह जगत् हैं ही नहीं; केवल ईश्वर है—
“ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।”

ज्ञान, विज्ञान एवं वैराग्य पुरुष तत्त्व हैं तथा माया एवं भक्ति स्त्री-तत्त्व है। पुरुष तत्त्व से स्त्रीतत्त्व पर विजय प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसलिए माया-तत्त्व पर विजय केवल भक्ति से की जा सकती है। माया पर विजय महामाया की कृपा से ही सम्भव है।

वासुदेव पाण्डेय

ग्राम- बदडीहा, पो०- मिर्जागंज,

जिला- गिरिडीह (झारखण्ड)



v X v X v X v X v X v X v X v X v X v X v X v X v X v X v X v

हिन्दी काव्य-जगत् में वीरगाथा-कालीन महाकवि 'चन्द्रवरदायी' (१२वीं शती) में अपने सुप्रसिद्ध काव्य 'पृथ्वीराजरासो' के ५८वें कनकवज्ज (अध्याय) में दशावतार के कथा-प्रसंग में सीता के अन्वेषण के लिए लंका गये हुए हनुमान् का वर्णन अशोक-वाटिका विनाश तथा लंका दहन के क्रम में किया गया है—

गयौ लंक हनुमेस, भमत सुधि सीता पाइय ।

धन उपवन संघरिय, धरे मन राम दुहाइय । ।

वाय जढ़यौ प्राकार, दसन जुद्धह दनु भखिवय ।

अखै कुमारन हनिय, दौरि चन्द्राजित दखिवय । ।

निखिपास रास दृढ़ बंधयौ कहि सुमरन अंबर धरौ ।

लबगाय पुच्छ लंका जरिय, कनक पक किञ्चौ खरौ । ।

v X v X v X v X v X v X v X v X v X v X v X v X v X v X v X v

व्रत-व्योहार



नववर्षारम्भ : १ जनवरी, २००५, शनिवार

मकर संक्रान्ति : १४ जनवरी, २००५, शुक्रवार

धनु-राशि के चलकर सूर्य जब मकर राशि में प्रवेश करते हैं, तब मकर संक्रान्ति होती है। यह संक्रमण काल बहुत सूक्ष्म होता है। इसलिए दान एवं स्नान के लिए 'पुण्यकाल' का विधान किया गया है। मकर संक्रान्ति में 'माघ' के मत से २० घटी अर्थात् ४८० मिनट और हेमाद्रि के मत से ३४ घटी अर्थात् ८१६ मिनट संक्रमण काल के बाद पुण्यकाल होता है। इस वर्ष दिनांक १४ जनवरी शुक्रवार के दिन ६:५४ बजे दिन संक्रमण हुआ है। पुण्यकाल १०:४३ से ५:०७ सन्ध्या तक है। इस दिन तिल का उबटन लगाना स्वास्थ्यवर्द्धक माना गया है। तिल के तेल का दीप मन्दिर में जलाना चाहिए तिल का भक्षण भी प्रशस्त कहा गया है।

संकष्ट चतुर्थी / गणेश चौठ (संकष्टहर गणपति व्रत) : २६ जनवरी, २००५,

माघ कृष्ण चतुर्थी के दिन गणेश की उत्पत्ति मानी गयी है। इसका अन्य नाम श्रीभालचन्द्र चतुर्थी भी है। 'व्रतरत्नाकर' (पृष्ठ १७६-१८८) में इसका विस्तृत उल्लेख है। इसमें षोडशोपचार से गणेश की पूजा कर २१ प्रकार के पत्तों से गणेश के २१ नामों की पूजा की जाती है। पुनः गणपति के १०८ नामों की पूजा की जाती है। "ऐसा आया है कि व्यास ने यह व्रत युधिष्ठिर को बताया था" (धर्मशास्त्र का इतिहास : पी०पी० काणे)।

नरक निवारण चतुर्दशी : ७ फरवरी, २००५, सोमवार

वर्ष भर सभी मास के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तिथि 'शिवरात्रि' के नाम से प्रचलित है। इनमें माघ और फाल्गुन की शिवरात्रि विशेष महत्त्वपूर्ण है। माघ की चतुर्दशी मिथिला क्षेत्र में नरक निवारण के नाम से विशेष महत्त्वपूर्ण है। ईशान संहिता को उद्धृत करते हुए म० म० रुद्रधर ने शिवलिंग के रूप में भगवान् शंकर की उत्पत्ति इस दिन माना है। सन्ध्या काल जिस दिन चतुर्दशी तिथि रहे उस दिन यह व्रत किया जाता है। दिन भर निराहार रहकर सन्ध्या में भगवान् शंकर की आराधना कर पारणा करते हैं। पारणा में बेर, कलाय (कलावा, मटर का एक प्रकार, कुसी केराव), मिसरीकन्द आदि प्रसिद्ध है।

मौनी अमावस्या : ८ फरवरी, २००५, मंगलवार

माघ कृष्ण अमावस्या में मौन-व्रत का महत्त्व है।

कलि-वर्षारम्भ : ८ फरवरी, २००५, मंगलवार

माघ शुक्ल की प्रतिपदा तिथि से कलि संवत्सर ५१०७ का आरम्भ (संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा का पंचांग) हुआ। इसके अनुसार कलिगताब्द- ५१०६, कलिभोग्याब्द ४२६८४ वर्ष, सृष्टि गताब्द १६७२६४६१०६ वर्ष तथा भोग्याब्द २३४७०५०८६४ वर्ष कलियुग में शेष है। गणित-ज्योतिष के लिए यह गणना महत्त्वपूर्ण है।

वसन्त पंचमी : १३ फरवरी, २००५, रविवार

यही 'श्री पंचमी' के नाम से भी प्रसिद्ध है। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों के अनुसार इस दिन लक्ष्मी की पूजा 'कुन्द' (चमेली) के फूल से की जाती है। 'प्राणतोषिणी' ग्रन्थ के अनुसार लक्ष्मी के साथ

‘वसन्त’ ऋतुराज कामदेव एवं रति की भी पूजा होती है, अतः यह वसन्तपंचमी भी कहलाता है। इसी दिन सरस्वती की पूजा करने की परम्परा भी है, जिसका मूल सम्भवतः मत्स्य-पुराण का ६६वाँ अध्याय है, जिसमें पंचमी तिथि में सरस्वती-पूजा का विधान किया गया है।

अचला सप्तमी / रथ सप्तमी : १५ फरवरी, २००५, मंगलवार

यह रथ सप्तमी के नाम से प्रसिद्ध है। सूर्योदय के समय जिस दिन सप्तमी तिथि रहे, उस दिन यह व्रत किया जाता है। इस दिन स्नान का माहात्म्य है। ‘दिवोदासीय मदनरत्न’ ग्रन्थ के अनुसार ईख के टुकड़ा से नदी के जल को हिलाकर अपने मस्तक पर अर्क (आक, अकवच) तथा बेर के सात-सात पत्ते रखकर निम्नलिखित मन्त्र पढ़ते हुए स्नान करना चाहिए।

यद्यज्जन्मकृतं पापं मया जन्मसु सप्तसु। तन्मे रोगं च शोकं च माकरी हन्तु सप्तमी।।

एतज्जन्मकृतं पापं यच्च जन्मान्तरार्जितम्। मनोवाक्कायजं यच्च ज्ञाताज्ञाते च ये पुनः।।

इति सप्तविधं पापं स्नानान्मे सप्तसप्तिके। सप्तव्याधिसमायुक्तं हर माकरि सप्तमि।।

यह सूर्यदेव की आराधना का व्रत है। इसमें तिल का लड्डू, पुआ आदि सूर्य को समर्पित करने का विधान किया गया है। परम्परानुसार व्रत करनेवाले इस दिन भोजन में नमक, तेल एवं हल्दी वर्जित करते हैं।

माघी पूर्णिमा : २४ फरवरी, २००५, गुरुवार

रविदास जयन्ती : २४ फरवरी, २००५, गुरुवार

भगवान् की भक्ति के मार्ग में वर्ण, लिंग और वय का कोई स्थान नहीं है—सनातन धर्म के इस तथ्य के प्रतीक, ‘चमार’ जाति के सन्त-शिरोमणि ‘रैदास’ की जयन्ती इस दिन मनायी जाती है।

महाशिवरात्रि : ८ मार्च, २००५, गुरुवार

फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी महाशिवरात्रि के नाम से भारत भर में प्रसिद्ध है। लोक-धारणा के अनुसार यह शंकर-पार्वती के विवाह के अवसर पर मनाया जाता है, किन्तु शास्त्रीय वचनों के अनुसार इस दिन भगवान् शंकर ने शिवलिंग का स्वरूप ग्रहण किया था। हलाँकि माघ कृष्ण की चतुर्दशी को भी लिंगोद्भव का दिन माना जाता है, किन्तु माघ और फाल्गुन का यह अन्तर इसलिए हुआ है कि दक्षिण भारत में शुक्ल पक्ष से मास प्रारम्भ हो जाता है। वस्तुतः नरक-निवारण-चतुर्दशी हो या महाशिवरात्रि, दोनों लिंगोद्भव के अवसर पर मनाया जाता है। इस दिन उपवास, सन्ध्या (प्रदोष) काल में भगवान् शंकर की पूजा एवं रात्रि में जागरण इन तीनों का माहात्म्य है।

होलिका दहन : २५ मार्च, २००५, शुक्रवार सन्ध्या ६:०३ से ८:२५ के पहले।

चैतन्य महाप्रभु जयन्ती : २५ मार्च, २००५, शुक्रवार

होली : २६ मार्च, २००५, शनिवार

होली का पर्व भारत में अति प्राचीन काल से मनाया जाता है। जैमिनि ने मीमांसा-सूत्र के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में १५-१६वें सूत्र में ‘होलाका’ नाम से इसका उल्लेख किया है। काठक गृह्य-सूत्र में भी एक सूत्र है— राका होलाके (७३।१)। इसकी टीका में देवपाल ने लिखा है कि स्त्रियों के सौभाग्य के लिए यह प्रातःकाल में मनाया जाता है। इसके देवता ‘राका’ (पूर्णचन्द्र) हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र (१।४।४२) में भी इस ‘होलाका’ का उल्लेख है। इसके टीकाकार जयमंगल ने फाल्गुनी पूर्णिमा के दिन इसे मनाने की बात कही है। उसके अनुसार शृंग से एक दूसरे पर रंगीन जल छिड़कने की क्रीड़ा इस दिन की जाती थी। लिंग, भविष्योत्तर, वाराह आदि पुराणों में भी इसकी चर्चा है।



महावीर मन्दिर प्रकाशन

प्रकाशित पुस्तकें :-

१.	मारुति-चरितामृतम् [वाल्मीकीय-रामायण एवं अन्य संस्कृत भाषामय स्रोतों से सम्पादित हनुमानजी का समग्र वृत्तान्त]	₹५.००
२.	रामराज्य [रामकथा के आधार पर आदर्श राज्य का स्वरूप-निरूपण] संपा०- आचार्य सीताराम चतुर्वेदी	₹०.००
३.	जै जै सियाराम [वाल्मीकीय-रामायण के आधार पर रामकथा के प्रमुख पात्रों की कथा] ले०- आचार्य सीताराम चतुर्वेदी	₹५.००
४.	मारुतिस्तुति [तुलसी-साहित्य से संकलित हनुमानजी की स्तुतियाँ]	₹०.०० (अजिल्द), ₹५.०० (सजिल्द)
५.	संक्षिप्त-मारुति स्तुति	₹५.००
६.	श्रीमद्भगवद्गीता [गद्य एवं पद्यानुवाद के साथ] गद्यानुवाद- आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, पद्यानुवाद- अरविन्द मानव	₹०.००
७.	भगवान् श्रीकृष्ण [भगवान् श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण जीवन और शिक्षा पर आधारित हिन्दी काव्य] कवि- जस्टिस विद्यानन्द	₹५.००
८.	स्तुति कौमुदी [हनुमान्जी की आरतियों एवं स्तुतियों का संग्रह]	₹.००
९.	बुद्धावताराय नमो नमस्ते [विष्णु के नवम अवतार के रूप में भगवान् बुद्ध का विवेचन] ले०- आचार्य किशोर कुणाल	₹०.००
१०.	बृहत् सत्यनारायण पूजा प्रकाश	₹०.००
११.	श्रीरामार्चनपद्धति: जगद्गुरु रामानन्दाचार्य प्रणीत [हिन्दी अनुवाद सहित]	₹५.००
१२.	श्रीरुद्रार्चनपद्धति:	₹५.००
१३.	दुर्गासप्तशती	₹५.००
१४.	हनुमान बाहुकम् का संस्कृत अनुवाद	₹०.००
१५.	हनुमत् कवचम्	₹.००
१६.	श्रीरामचरितमानस (बालकाण्ड) [तुलसी की चौपाइयों के मूल संस्कृत स्रोत के साथ मारुति-टीका सहित] आचार्य सीताराम चतुर्वेदी	अप्राप्य
१७.	श्रीरामचरितमानस [मारुति-टीका सहित] आचार्य सीताराम चतुर्वेदी	अप्राप्य
१८.	संसार को भारत का सारस्वत अवदान - लेखक - डा० सीताराम झा 'श्याम'	अप्राप्य
१९.	मारुतिशतकम् [संस्कृत काव्य : हिन्दी अनुवाद सहित] मूल- म० म० प० रामावतार शर्मा	अप्राप्य
२०.	जै बजरंगवली [हनुमान् की कथाओं का अनूठा संग्रह] ले०- आचार्य सीताराम चतुर्वेदी	अप्राप्य
२१.	रघुवंशम् [महाकवि कालिदास कृत] हिन्दी अनुवाद- आचार्य सीताराम चतुर्वेदी	अप्राप्य
२२.	रामायण कथा [१६ स्रोतों से प्राप्त राम-कथाओं का अनूठा संकलन] ले०- आचार्य सीताराम चतुर्वेदी	अप्राप्य
२३.	वाल्मीकि-रामायण केवल हिन्दी अनुवाद अनुवादक आचार्य सीताराम चतुर्वेदी	190. 00



वेदवाणी

[ऋग्वेद में शूद्र जाति के ऋषि कवष ऐलूष द्वारा दृष्ट 'कितव सूक्त' काव्यात्मक सौन्दर्य एवं सामाजिक-मूल्यों की महार्घता के कारण कमनीय माना जाता है। इस सूक्त में एक हारे हुए जुआड़ी की मनोदशा का सजीव चित्रण किया गया है। इतना ही नहीं, सूक्त के अन्त में सविता देवता की सौगन्ध देकर उन्हें जुआ खेलने से रोकते हुए कृषि और पशुपालन की ओर प्रवृत्त किया गया है। ऋग्वेद के दशम-मण्डल का यह चौतीसवाँ सूक्त हिन्दी पद्यानुवाद के साथ 'धर्मायण' के पाठकों के लिए प्रस्तुत हैं।

— सं०]

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः ।

सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥१॥

ऊँचे थल पर खुली हवा में जनमे पाँसे खन-खन करते अवतल तल पर लुढ़क रहे हैं।
मूजवन्त पर्वत का जैसा सोम नशीला, पाँसे बहेड़ के जिन्दादिल ये मस्ती भर देते हैं॥

न मा मिमेष न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत् ।

अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम् ॥२॥

कभी न इसने कलह किया, ना रोष किया, सदा कृपा की इसने मुझपर मेरे मित्रों पर भी।
पतिव्रता पत्नी को मैंने छोड़ दिया जो, उसका कारण यहीं दाँव चौपड़ का है॥

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम् ।

अश्वस्येव जरतो वस्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥३॥

आज स्त है सास, मुझे पत्नी धकेलती, इस संकट में दया-भाव मुझ पर न किसी का।
हाय जुआरी! बता तुझे क्या लाभ मिला? बूढ़ा घोड़ा-जैसा कोई बिकने को चौराह खड़ा॥

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद् वेदने वाज्यक्षः ।

पिता माता भ्रातर एनामाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ॥४॥

अन्य पुस्र अब स्पर्श करेंगे उसकी घरवाली का, जीते पाँसे आज नजर डालेंगे धन पर।
भाई, माँ और बाप सभी समवेत कहेंगे, इससे मतलब नहीं हमें, ले जाओ बाँधकर॥

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽवहीये सखिभ्यः ।

न्युन्नाश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥५॥

जब भी मैं निश्चय करता हूँ, नहीं खेलना पाँसों से, मित्रों से पीछे पड़ जाता, सभी छोड़ चल देते हैं।
पर चौपड़ में भूरे पाँसे ज्यों ही खन-खन करते, कुन्टा-सा मैं दौड़ा जाता, तभी उसी संकेत-स्थल पर॥

सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा शूशुजानः ।

अक्षासो अस्य वि तिरन्ति काम प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि ॥६॥

कैसे पाँसा फेंकू? कैसे? प्रश्न स्वयं से करता, आज चीत होगी मेरी, यह सोच जुआरी घुस जाते।
पर हाय! सभी पाँसे उलटे! क्या सोचा था उसने मन में! प्रतिपक्षी की जीत दाँव पर सभी दिला जाते॥



महिलाओं में होनेवाले कैंसर और उनसे बचाव

बच्चेदानी का कैंसर :-

बचाव की आवश्यक सावधानियाँ :- 21 वर्ष की उम्र के बाद से प्रत्येक 3 वर्ष पर पैप टेस्ट नियमित रूप से करवाएँ, यदि आप विवाहित हैं या सेक्स-सम्बन्ध स्थापित करती हैं। 1 धूम्रपान न करें। 2 जननांगों के किसी भी तरह के संक्रमण की जाँच एवं इलाज जरूर कराएँ।

बच्चेदानी के कैंसर के कारण :- 1 एच० पी० वी० (ह्यूमन पैपिलोमा वायरस) का संक्रमण- 60 प्रतिशत से ज्यादा बच्चेदानी के कैंसर एच० पी० वी० संक्रमण के कारण होते हैं। यह संक्रमण असुरक्षित यौन-सम्बन्ध के कारण एक व्यक्ति से दूसरे को होता है। एच० पी० वी० संक्रमण के साथ कुछ अन्य कारण भी हो तो रोग होने की सम्भावना बढ़ जाती है। 2 कम उम्र में विवाह या सेक्स सम्बन्धों की शुरुआत- जिन महिलाओं का विवाह या सेक्स सम्बन्ध 16 वर्ष की उम्र के पहले हो जाता है, उनके बच्चेदानी के कैंसर से ग्रस्त होने की सम्भावना दुगुनी हो जाती है। 3 अनेक व्यक्तियों से शारीरिक सम्बन्ध- जिन महिलाओं के 5 या उससे ज्यादा व्यक्तियों से शारीरिक सम्बन्ध होते हैं, उनके इस बीमारी से ग्रस्त होने की सम्भावना तीनगुणा बढ़ जाती है। 4 तम्बाकू : तम्बाकू का सेवन करने से भी बच्चेदानी के कैंसर का खतरा बढ़ जाता है। 5 बच्चों की संख्या : जिन महिलाओं के ज्यादा बच्चे हों उन्हें भी यह कैंसर होने की सम्भावना ज्यादा होती है। 6 बढ़ती उम्र : उम्र के साथ-साथ बच्चेदानी का कैंसर होने का खतरा बढ़ता जाता है। 7 निम्न सामाजिक आर्थिक स्थिति : निम्न सामाजिक आर्थिक स्थिति की महिलाओं को बच्चेदानी का कैंसर ज्यादा होता है।

स्तन कैंसर :-

बचाव की आवश्यक सावधानियाँ :- 1 10 वर्ष की उम्र होने पर नियमित रूप से मैमोग्राफी करवाएँ। 2 वजन नियन्त्रित रखें। 3 प्रतिदिन कम से कम 30 मिनट तक शारीरिक श्रम करें। 4 एक मल्टीविटामिन की गोली प्रतिदिन खाएँ। 5 अगर बच्चे हों तो स्तनपान जरूर कराएँ। 6 गर्भ-निरोधक गोलियों के बारे में डाक्टर से सही जानकारी अवश्य लें। 7 अगर आपका रजोनिवृत्ति (मेनोपॉज) हो चुका है, हार्मोन की दवाओं के फायदे और नुकसान के बारे में डॉक्टर से जानकारी लें। 8 अगर आपके स्तन में कोई गाँठ-कड़ापन या त्वचा के रंग में परिवर्तन दिखे, तो डॉक्टर के पास जाएँ। 9 अगर आपके परिवार में गर्भाशय या स्तन का कैंसर पहले किसी को हो चुका है, तो आप अपने लिए ज्यादा सावधानी बरतें। स्क्रीनिंग, जेनेटिक टेस्ट और बचाव के अन्य उपायों को जरूर अमल करें। 10 ताजा फल और सब्जियों का भरपूर मात्रा में सेवन करें।

स्तन कैंसर के कारण :- 1 ज्यादा वजन और वजन का बढ़ना : किशोरावस्था में ज्यादा वजन और मेनोपॉज के बाद ज्यादा वजन बढ़ने से स्तन कैंसर का खतरा बढ़ जाता है। 2 शारीरिक श्रम : शारीरिक श्रम या नियमित व्यायाम नहीं करने से स्तन कैंसर का खतरा बढ़ जाता है। 3 शराब की लत : शराब पीनेवाली महिलाओं को स्तन कैंसर ज्यादा होता है। 4 गर्भ निरोधक गोली : इसका सेवन 10 वर्ष या उससे ज्यादा करने पर स्तन कैंसर होने का खतरा बढ़ जाता है। 5 एच० आर० टी० : हार्मोन की दवाओं का सेवन भी स्तन कैंसर का खतरा बढ़ाता है। इसके अलावा आनुवंशिक, भौगोलिक कई कारण हैं, जो स्तन कैंसर होने की सम्भावना को बढ़ाते हैं।

पित्त की थैली (गॉल-ब्लाडर) का कैंसर :-

बचाव की आवश्यक सावधानियाँ :- 1 वजन पर नियन्त्रण रखें। 2 अगर पित्त की थैली में पथरी हो तो तुरन्त ऑपरेशन द्वारा निकलवाएँ। 3 खाना बनाने के लिए बचे तेल का इस्तेमाल वार-वार न करें। 4 रात का खाना या सुबह का नाश्ता समय पर करें। 5 विटामिन 'ए' जिन फलों या सब्जियों में है, उनका सेवन करें।

गॉल-ब्लाडर या पित्त की थैली के कैंसर के कारण :- 1 पित्त की थैली में पथरी : ज्यादा दिनों से पथरी होने से गॉल-ब्लाडर का कैंसर हो सकता है। 2 ज्यादा बच्चे : ज्यादा बच्चोंवाली महिलाओं को भी यह बीमारी ज्यादा होती है। 3 भोजन में विटामिन ए० की कमी : इससे भी बीमारी का खतरा बढ़ जाता है। 4 पीने के पानी में भारी धातुओं का पाया जाना : यह भी एक कारण है। इसके अतिरिक्त अन्य कई कारण हैं जो अभी अज्ञात हैं, जिनकी वजह से पित्त की थैली का कैंसर हो सकता है।

(महावीर कैंसर संस्थान के सौजन्य से।)